THEORIES OF RASA DHVANI (VI)

M.A. (Sanskrit)

Semester-III, PAPER-V

Director

Dr.Nagaraju Battu

M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222,

0863-2346259 (Study Material)

Website: www.anucde.info

e-mail: anucdedirector@gmail.com

FOREWORD

Since its establishment in 1976, Acharya Nagarjuna University has been forging ahead in the path of progress and dynamism, offering a variety of courses and research contributions. I am extremely happy that by gaining 'A' grade from the NAAC in the year 2016, Acharya Nagarjuna University is offering educational opportunities at the UG, PG levels apart from research degrees to students from over 443 affiliated colleges spread over the two districts of Guntur and Prakasam.

The University has also started the Centre for Distance Education in 2003-04 with the aim of taking higher education to the door step of all the sectors of the society. The centre will be a great help to those who cannot join in colleges, those who cannot afford the exorbitant fees as regular students, and even to housewives desirous of pursuing higher studies. Acharya Nagarjuna University has started offering B.A., and B.Com courses at the Degree level and M.A., M.Com., M.Sc., M.B.A., and L.L.M., courses at the PG level from the academic year 2003-2004 onwards.

To facilitate easier understanding by students studying through the distance mode, these self-instruction materials have been prepared by eminent and experienced teachers. The lessons have been drafted with great care and expertise in the stipulated time by these teachers. Constructive ideas and scholarly suggestions are welcome from students and teachers involved respectively. Such ideas will be incorporated for the greater efficacy of this distance mode of education. For clarification of doubts and feedback, weekly classes and contact classes will be arranged at the UG and PG levels respectively.

It is my aim that students getting higher education through the Centre for Distance Education should improve their qualification, have better employment opportunities and in turn be part of country's progress. It is my fond desire that in the years to come, the Centre for Distance Education will go from strength to strength in the form of new courses and by catering to larger number of people. My congratulations to all the Directors, Academic Coordinators, Editors and Lesson-writers of the Centre who have helped in these endeavours.

Prof. P. Raja Sekhar
Vice-Chancellor
Acharya Nagarjuna University

॥ श्रीः ॥

काव्यप्रकाशः

'रहस्यबोधिनी'-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथम उल्लासः

(मङ्गलम्)

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

रहस्यबोधिनी

महामहोपाध्याय परम-माहेश्वर मम्मट भट्ट स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या करने की इच्छा से मङ्गलाचरण की अवतरणिका उपस्थित करते हैं—'ग्रन्थे'ति। सम्बन्ध और प्रयोजन के ज्ञान से आहित शुश्रूषाजन्यश्रुतिविषय-शब्द-सन्दर्भ को 'ग्रन्थ' कहते हैं, 'सम्बन्ध-प्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः'। और वाच्य - वाचकत्वरूप सम्बन्ध माना जाता है। शीघ्र विघ्न-विघात-सामार्थ्य-प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवती लक्षणा से तत्प्राक्काल अर्थ को 'आरम्भ' शब्द से समझना चाहिए। 'विघ्नविघाताये'ति। 'प्रतिबन्धक अदृष्टविशेष' को विघ्न कहते हैं, उसका विघात अर्थात् विशेष ध्वंस, तदर्थ समुचित अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप अपने मनोनुकूल कविभारती रूप इष्ट देवता का ग्रन्थकार मम्मटाचार्य 'परामृशति' स्मरण करते हैं, अर्थात् अपने इष्ट देवता की स्तुति करते हैं। तथा च 'ग्रन्थारम्भप्राक्कालिक-विघ्नविघातफलकसमुचितेष्टदेवताकर्मकग्रन्थकृदभिन्नमम्मटकर्तृकवर्तमानकालिकपरामर्शानुकूलोव्यापारः' इस प्रकार से अवतरणिकावाक्य का शाब्द-बोध किया जाता है।

विशेष विवरण—श्रीमम्मटभट्ट ने स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या स्वयं की है।

ग्रन्थ का लक्षणः—

रहस्यबोधिनी में बताये हुए ग्रन्थलक्षण के अतिरिक्त एक अन्य लक्षण भी सुना जाता है **'पञ्चाङ्गकम् वाक्यं ग्रन्थः'**—अवयव-पञ्चक से युक्त वाक्य को ग्रन्थ कहते हैं, इन पाँच अवयवों को ही मीमांसक लोग 'अधिकरण' शब्द से कहते हैं।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

वृत्तिः–नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः । अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥१॥

भारतीय परम्परा के अनुसार कार्य प्रारम्भ के पूर्व मङ्गलाचरण के द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है । उससे निर्विघ्नतापूर्वक कार्य की समाप्ति हुआ करती है । अतः मङ्गलाचरण का एक मुख्य प्रयोजन विघ्नविघात भी है । ग्रन्थकार **'काव्यप्रकाश'** नामक ग्रन्थरचना का कार्य आरम्भ कर रहे हैं, उसके निर्विघ्न समाप्ति हेतु वाङ्मय की अधीश्वरी कविभारती का इष्ट देवता के रूप में स्मरण करना उचित समझते हैं । उनका विश्वास है कि ब्रह्मदेव के **जगन्निर्माण** की अपेक्षया **कविवाङ्निर्माण** उत्कृष्टतर है । इसी आशय को मङ्गलाचरण के द्वारा वे बता रहे हैं--**'नियतिकृतेति'** ।

(१) नियति के द्वारा उत्पन्न किय गये बन्धनों से रहित, केवल आह्लादमय, अपने से अतिरिक्त अन्य किसी का भी अवलम्बन न करने वाली और नवरसों के कारण आकर्षक लगने वाली तथा सृष्टि का निर्माण करने वाली **कविभारती** (कविवाणी) अर्थात् कवि की सरस्वती विजय को प्राप्त होती हैं (उत्कृष्ट रहती हैं) ।

ग्रन्थकार स्वयं ब्रह्मदेव की सृष्टि के स्वरूप का विवरण करते हुए अपनी मङ्गलाचरणकारिका की व्याख्या करते हैं—**'नियतिशक्त्येति'** ।

ब्रह्मदेव की सृष्टि **'अदृष्ट'** अथवा **असाधारण धर्म रूप 'नियति'** की शक्ति से जकड़ी रहती है । उसका स्वरूप **सुख-दुःख** और **मोह** से पूर्ण रहता है । वह **'परमाणु'** आदि उपादान कारण तथा **'कर्म'** आदि सहकारी कारणों के पराधीन रहती है । और वह छः रसों से युक्त होती है । तथापि उसकी हृदयङ्गमता अर्थात् मनोरमता निश्चित नहीं रहती, किन्तु **कवि की वाक्सृष्टि ब्रह्मदेव की सृष्टि** से भिन्न-स्वरूप की रहती हैं, इसीलिए वह विजय को प्राप्त होती है, अर्थात् श्रेष्ठ समझी जाती है । यहाँ **'जयति'** पद के अर्थ से नमस्कार अभिव्यञ्जित होता है अर्थात् 'उसे मैं प्रणाम करता हूँ'--यह अभिप्राय प्रकट होता है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—अनुबन्ध-चतुष्टय—

प्रथम कारिका के द्वारा मङ्गलाचरण करने के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ के **विषय, प्रयोजन** आदि अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण कर्त्तव्य होता है । मनुष्य की प्रवृत्ति

(विषय-प्रयोजने)

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

वृत्तिः—कालिदासादीनामिव यशः । श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम् ।

तभी हो पाती है कि जब उसे **इष्ट-साधनता** और **कृति-साध्यता** का ज्ञान रहता है। अर्थात् यह काम मेरे लिए हितकर है और मैं इस काम को अच्छी तरह कर सकता हूँ। ऐसा समझने पर ही मनुष्य उस कार्य में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। **'इदं मत् इष्टसाधनम्'** इस ज्ञान में **'इदं'** शब्द से **विषय**, **'इष्ट'** शब्द से **प्रयोजन**, **'साधनम्'** शब्द से **सम्बन्ध** और **'मत्'** शब्द से **अधिकारी** का ज्ञान होता है। इन चारों का ज्ञान ही मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त कराता है। अतएव **'प्रवृत्ति-प्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्'** यह **'अनुबन्ध'** का लक्षण विद्वानों ने किया है। इससे स्पष्ट है कि **विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी** इन चारों को **'अनुबन्ध'** शब्द से कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उक्त चारों अनुबन्धों का निरूपण करना ग्रन्थकार के लिए आवश्यक माना गया है। उक्त चार अनुबन्धों में से **विषय** तथा **प्रयोजन** ये दो अनुबन्ध मुख्य होते हैं। इसलिए इनका शब्द से निरूपण करना आवश्यक है। अवशिष्ट, **अधिकारी** तथा **सम्बन्ध** ये दो अनुबन्ध पूर्वोक्त दो अनुबन्धों की अपेक्षा गौण हैं। इनका ज्ञान, बिना शब्द के भी अर्थतः हो सकता है ॥ १ ॥

इसी अभिप्राय से परम-माहेश्वर मम्मटभट्ट ने अग्रिम कारिका में **विषय और प्रयोजन** का प्रतिपादन किया है।

विषय और प्रयोजन—

इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया जाने वाला **'विषय'** अभिधेय है। वह सप्रयोजन है, अर्थात् **काव्य का लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलंकार** ये सब इस ग्रन्थ के विषय हैं और ये ही काव्य के प्रयोजन की सिद्धि में प्रधान साधन हैं। इसलिए अब काव्य के प्रयोजनों को बताते हैं—

(२) काव्य का निर्माण **'यश'** के लिए, **'अर्थ (धन) प्राप्ति'** के लिए, **'लोकव्यवहार के ज्ञान'** के लिये, **'अनिष्ट (अकल्याण) के विनाश के लिये,** और **'तत्क्षण (सद्यः) परम आनन्द की प्राप्ति** के लिए' तथा **स्त्री के समान** रस भरे शब्दों से उचित **उपदेश** (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का उपदेश) के लिये होता है ॥२॥

काव्य रचना (निर्माण) से कवि को कालिदास आदि महाकवि के समान

राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्। आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्। सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलितवेद्यान्तरानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्॥ २॥

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

(काव्य-हेतुः)

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ ३॥

(१) **यश** की प्राप्ति, रत्नावली नाटिका के निर्माता राजा श्री हर्ष से धावक आदि विद्वानों के समान (२) **धन** की प्राप्ति होती है। यह काव्य ही (३) राजा आदि के साथ किये जाने वाले **उचितव्यवहार का ज्ञान** कराता है एवम् (४) सूर्य आदि ईश्वर की स्तुति से मयूर कवि के कुष्ट रोग निवारण के समान **अनर्थ का निवारण** करता है और समस्त प्रयोजनों में प्रधानभूत काव्य-पाठ या श्रवण से तत्काल ही समुत्पन्न हुए रसास्वाद से अन्यान्य विषयों के ज्ञान से रहित (५) **परम आनन्द की अनुभूति** कराता है। तथा राजाज्ञा के समान शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण, एवम् अर्थप्रधान पुराण, इतिहास आदि से भी विलक्षण, और शब्द तथा अर्थ दोनों के अप्रधान रहने से रस के साधक व्यञ्जना-व्यापार की प्रधानता के द्वारा लोकोत्तर वर्णन शैली में जो निपुण-कविकर्मरूप काव्य है, वह (६) स्त्री के समान बड़ी सरसता के साथ **राम** आदि के तुल्य आचरण करना चाहिए, **रावण** आदि के तुल्य नहीं। इस प्रकार कवि तथा सहृदय पाठक आदि दोनों को यथोचित उपदेश करता है। इसलिए **काव्यनिर्माण** तथा **उसके अध्ययन** में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए॥ २॥

काव्यनिर्माण में कारण

इस प्रकार **'काव्य'** का **प्रयोजन** बताने के बाद स्वयं ग्रन्थकार ही काव्य निर्माण में कारणभूत तत्वों को बता रहे हैं—

(३) काव्य के निर्माण करने में कवि की स्वाभाविक प्रतिभारूप **'शक्ति'**, **लोक व्यवहार**, **शास्त्र** और **काव्य** आदि के अवलोकन से प्राप्त होने वाली **कुशलता**,

वृत्तिः—शक्तिः (कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्) लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षण-ग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्य-स्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥ ३ ॥

काव्यनिर्माण तथा काव्य की आलोचना करने की पद्धति को जानने वाले गुरु से प्राप्त की हुई **शिक्षा** के अनुसार किया जाने वाला **अभ्यास**, ये तीनों सामूहिकरूप से उस काव्य के निर्माण में हेतु (कारण) हैं ॥ ३ ॥

(१) कवित्व के बीजभूत संस्कार विशेष को 'शक्ति' (प्रतिभा) कहते हैं, जिस 'शक्ति' (प्रतिभा) के बिना काव्य बनता (निर्माण) ही नहीं है, यदि कदाचित् तुकबन्दी के रूप में बन भी जाय, तो वह उपहास के योग्य हो जाता है ।

(२) **लोक** अर्थात् चर-अचर (जंगम-स्थावर) सृष्टि के व्यवहार (लोकवृत्त), और **शास्त्र** अर्थात् **छन्दःशास्त्र** तथा **व्याकरण, अभिधान** अर्थात् संज्ञा-शब्दों के कोश (अमरकोषादि), **कला** अर्थात् भरत, कोहल, मतंग आदि के विरचित नृत्य-गीत आदि चौसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षण ग्रन्थ, **चतुर्वर्ग** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ, गज (हाथी), तुरग (अश्व = घोड़ा) आदि पशुओं के लक्षण-प्रतिपादक शालिहोत्रादि ग्रन्थ, तथा खड्गादि लक्षणग्रन्थों और महाकवि-संबन्धी अर्थात् महाकवियों द्वारा विरचित काव्यों के, 'आदि' शब्द के ग्रहण से इतिहासादि के पर्यालोचन से होने वाली **व्युत्पत्ति** (कुशलता), तथा—

(३) जो लोग काव्य की रचना और उसकी विवेचना करना जानते हैं, उनकी सूचनाओं (उपदेशों) के अनुसार स्वयं नवीन कविता (श्लोक आदि) के रचने में और उसी में पद योजना के सम्बन्ध में पुनः पुनः **प्रवृत्ति** अर्थात्—**अभ्यास**—ये तीनों **समष्टि** (समूह) के रूप में, पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) नहीं, उस काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और उसको उत्कृष्ट बनाने में हेतु (कारण) है अर्थात् तीनों तत्त्वों की समष्टि (समूह) काव्यनिर्माण में तथा उसकी उत्कृष्टता में हेतु है । ये तीनों स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् कारण नहीं हैं ॥ ३ ॥

(काव्यलक्षणम्)

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(सू० १) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-
वनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

वृत्तिः—दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह, यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।

काव्य का लक्षण

इस प्रकार काव्य निर्माण का हेतु बताकर उसके स्वरूप को बताते हैं—

(सू० १) वह (काव्य) दोषों से रहित, और गुणों के सहित तथा साधारणतया अलंकारसहित किन्तु कहीं-कहीं अलंकाररहित भी शब्द और अर्थ (दोनों के समूह) काव्य कहलाते हैं।

दोष, गुण और अलंकारों को आगे चलकर क्रमशः सात, आठ, नौ और दसवें उल्लासों में कहेंगे। "अनलंकृती पुनः क्वापि" इस वाक्यांश में प्रयुक्त 'क्वापि' अर्थात् 'क्वचित्' पद से ग्रन्थकार यह बताना चाहते हैं कि काव्य में 'शब्द' और 'अर्थ' सर्वत्र अलंकारों से विभूषित ही रहते हैं। किन्तु क्वचित् अलंकार के प्रकट न हो सकने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

जैसे—स्फुटालंकारविरहविशिष्ट काव्य का उदाहरण—'मेरी कौमार अवस्था का जिसने अपहरण किया वही प्रियतम पति अब भी है और चैत्र मास की चन्द्रिका-पूर्ण वे ही रात्रियाँ हैं, विकसित हुई मालती की सुगन्ध से पूर्ण और धूलिकदम्ब की कामोत्तेजक (उन्मादक) पवन भी वही बह रही है तथा मैं भी वही हूँ। (सभी सामग्री पुरानी हैं और दीर्घकाल तक उपभुक्त होने से उसके प्रति उत्सुकता के होने का कोई अवसर भी नहीं है) फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेंत की लता से वेष्टित वृक्ष के नीचे (जहाँ कितनी ही बार अपने प्रियतम के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ) उसी काम-क्रीड़ा के विलासों के लिए मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है ॥ १ ॥

इस काव्य में अलंकार की स्पष्टता नहीं है और रस की प्रधानता होने के

तद्भेदान् क्रमेणाह—

(उत्तमकाव्यम्)

(सू० २) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये-
वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

वृत्तिः—इदमिति काव्यम् बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्य-

---

कारण उस (रस) को **'रसवत् अलंकार'** के रूप में भी नहीं कह सकते, क्योंकि **'रसवत् अलंकार'** रस के प्रधान न रहने पर ही होता है। इस काव्य की रचना **'शार्दूल विक्रीडित'** छन्द में की गयी है।

विशेष विवरण—इस काव्य में यद्यपि 'हरो' 'वरः' इत्यादि **'अनुप्रास'** की स्पष्टता रहने पर भी प्रकृत शृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्ण होने से उसे अलङ्कार के रूप में नहीं गिना जा सकता है। एवं 'कारण' के न रहने पर भी 'कार्योत्पत्तिकथनरूप **विभावना'** का लक्षण यहाँ घटित होने से **'विभावनालंकार'** की स्पष्टता और कारण के रहने पर भी कार्याभाव के कथनरूप **'विशेषोक्ति'** अलंकार का लक्षण घटित होने से **'विशेषोक्ति'** अलंकार की स्पष्टता यद्यपि यहाँ प्रतीत होती है, तथापि **अभाव** बोधक **'नञ्'** आदि शब्दों के उपादान करने पर ही उक्त दो अलंकारों की स्पष्टता स्वीकार की गयी है, आर्थिक प्रतीति पर नहीं। अतः दोनों में से किसी भी अलंकार की स्पष्टता (स्फुटता) न हो सकने से इस काव्य को **अस्फुट अलंकार का** उदाहरण कहा गया है। यदि यह कहें कि यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार रस की स्फुटता रहने से **रसवदलंकार** स्फुट हो रहा है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि **'रस की अप्रधानता'** होने पर ही **'रसवदलंकार'** होता है। पञ्चम उल्लास में **'रसवदलंकार'** का उदाहरण **'अयं स रशनोत्कर्षी'** दिया जायेगा ॥ १ ॥

काव्य के प्रयोजन, काव्यनिर्माण का हेतु (साधन) तथा काव्य का लक्षण बताने के पश्चात् अब अवसर प्राप्त काव्य के भेदों को कहते हैं—

उत्तम काव्य

(सू. २) **'वाच्य'** अर्थ की अपेक्षा **व्यङ्ग्य अर्थ**, जहाँ अधिक चमत्कारपूर्ण (रंजक) हो, वह काव्य **'उत्तम'** है, विद्वानों ने उस काव्य को **'ध्वनि'** (ध्वनि-काव्य) कहा है ॥ ४ ॥

सूत्र में प्रयुक्त **'इदम्'**-पद **'काव्य'** का ज्ञापक है अर्थात् **'यह काव्य'**। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत में इस प्रकार होगा—**'वाच्याद्'** अभिधावृत्ति-प्रतिपाद्यादर्थाद् **व्यङ्ग्ये** व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे **अतिशायिनि** अतिचमत्कारजनके सति

व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि **न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।**

इदम् एतत् काव्यं **बुधैः** पण्डितैः उत्तमं काव्यं कथितं स्वीकृतम्, तदेव बुधैः ध्वनिपण्डितैः **ध्वनिः कथितः** ध्वनिरित्युच्यते ॥ २ ॥

'बुधैः' वैयाकरणों ने मुख्य (प्रधान) **'स्फोट'** (स्फुटयतिप्रकाशयति अर्थम् इति स्फोटः—जो अर्थ को प्रकाशित करता है उसे 'स्फोट' कहते हैं) रूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है उसकी अभिव्यक्ति करने वाले शब्द को 'ध्वनि' कहा है। उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले (आनन्दवर्धन आदि) अन्य विद्वानों ने भी **वाच्यार्थ** को **गौण** (अप्रधान, अमुख्य) बना देने वाले और **व्यङ्ग्यार्थ** की अभिव्यक्ति करने में सशक्त (समर्थ) रहने वाले शब्द तथा अर्थ दोनों की जोड़ी (दोनों के लिये) के लिये भी अर्थात् शब्दार्थ युगलरूप उत्तम काव्य के लिये भी वही 'ध्वनि' संज्ञा दी है। अर्थात् **वैयाकरणों** के उक्त व्यवहार को ध्यान में रखकर **आलंकारिकों** ने भी वाच्यार्थ को अभिभूत करने में सशक्त रहने वाला जो व्यङ्ग्य अर्थ उसके अभिव्यञ्जक **'शब्द'** तथा **'अर्थ'** के लिए **'ध्वनि'** शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

आलंकारिकों की ध्वनि संज्ञा का मूल आधार—'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **वैयाकरणों** ने किया था। उसी को 'आनन्दवर्धन' आदि **ध्वनिवादी** आलंकारिक आचार्यों ने अपना लिया। कारण यह था कि व्याकरण के अनुसार प्रधानभूत 'स्फोट' की अभिव्यक्ति शब्द से होती है, इसलिए **स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द को 'ध्वनि' शब्द से कहा जाता है।**

स्फोटवाद—

वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त **'स्फोटवाद'** है। **'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः'** जिससे अर्थ प्रकाशित होता है उसे **'स्फोट'** कहते हैं। यह **'स्फोट'** आठ प्रकार का होता है। उनमें से पदार्थ की प्रतीति **पदस्फोट** से और वाक्यार्थ की प्रतीति **वाक्यस्फोट** से होती है। गकार, औकार, विसर्ग के योग से निष्पन्न हुआ **'गौः'** पद गाय का ज्ञान कराता है। **'गौः'** यह पद, सुनाई देने वाली **'ध्वनि'** नहीं है किन्तु उससे अभिव्यक्त एक **मानस स्फोट** है। क्योंकि कर्णगोचर होने वाली **'ध्वनि'** तो क्षणिक है। एक **'ध्वनि'** के उच्चारण के बाद जबतक दूसरी **'ध्वनि'** का उच्चारण किया जाता है तब तक पहला **'ध्वनि'** (वर्ण) नष्ट हो जाता है। इस कारण अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की स्थिति एक साथ नहीं हो सकती। उसी प्रकार नानापदों के समुदायरूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में पदार्थ अथवा **वाक्यार्थ** की प्रतीति कराने के लिए **वैयाकरणों** ने स्फोटसिद्धान्त की कल्पना की है। वैयाकरणों का कथन है कि

यथा—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

वर्णोच्चारण के समय पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से तिरोभूत हुए वर्णों को ग्रहण करने वाली 'एक पद' की प्रतीति मन में उत्पन्न होती है, उसी को 'पदस्फोट' शब्द से कहा गया है। इसी 'पदस्फोट' के द्वारा पदार्थ की प्रतीति होती है, कान से सुने गये शब्द या ध्वनि से नहीं। क्योंकि उस समय तो अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की निष्पत्ति होना असम्भव ही है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद के अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के सहित अंतिम पद के श्रवण से अविद्यमान पदों को भी ग्रहण करने वाली 'एक वाक्य' की प्रतीति मन में होती है। उसी को वैयाकरणों ने 'वाक्य-स्फोट' नाम दिया है। इसी से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

वैयाकरणों के उक्त स्फोटवाद का समर्थन नैयायिक विद्वान् नहीं करते, क्योंकि नैयायिकों के मत में 'शब्द' अनित्य है और 'स्फोट' को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु वैयाकरण 'स्फोट' को नित्य कहते हैं और उसी के आधार पर शब्द को नित्य मानते हैं। नैयायिक 'सत्-असत् अनेक वर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सत्-असत् अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति' को मानते हैं। किन्तु वे उसे स्फोट नहीं कहते और उसे नित्य भी नहीं मानते।

इसी तरह मीमांसकों ने भी वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है। तथापि वे शब्द को नित्य मानते हैं।

वैयाकरणों के मत में 'स्फोट' की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वन्यात्मक शब्द से होती है। इसलिए उन्होंने 'प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द' को 'ध्वनि' कहा है। उसी का अनुसरण कर आनन्दवर्धनाचार्यादि आलंकारिकों ने 'प्रधान-भूत व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ' के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण—

जैसे—

तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन सम्पूर्णतया (बिल्कुल) मिट गया है। (यदि स्नान करने से यह चन्दन मिटा होता तो केवल अग्रभाग का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्तन पर से मिट जाता। किन्तु ऊपर उभरे हुए अग्रभाग पर से ही यह चन्दन मिटा हुआ है, इसलिए यह निश्चित ही है कि वह परपुरुष के आलिङ्गन से ही मिटा

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

(मध्यमकाव्यम्)

वृत्तिः—अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते ॥ ४ ॥

हुआ है ।) अधर की रक्तिमा (राग) बिल्कुल छूट गयी है, आँखों का काजल बिल्कुल ही पुछ गया है और तुम्हारी यह कृश तनु (शरीर) रोमाञ्चयुक्त हो रही है । अपनी बान्धवरूप सहेली की पीड़ा को न समझने वाली और मिथ्याभाषण करने वाली अरे दूती ! तू यहाँ से बावली पर स्नान करने के लिए गयी थी, उस अधम (नायक) के समीप नहीं न गयी ॥ २ ॥

यह सब कहने वाली विदग्ध उत्तम नायिका है । वह अच्छी तरह से जान रही है कि यह दूती, नायक के साथ सम्भोग करके आयी है और जिससे यह सब कहा जा रहा है वह तो जानती ही है । इसलिए वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से यह कहा जा रहा है कि 'तू उसी के पास गयी थी और रमण करने के लिए ही गयी थी', यह बात विशेषतया 'अधम' पद से अभिव्यक्त हो रही है । इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार है इसलिए उक्त काव्य को उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के उदाहरण में उपस्थित किया गया है ।

विशेष विवरण—इसमें (दूती से) विदग्ध उत्तम नायिका स्नान से होने वाले कार्यों को प्रकाशित करने के बहाने उसके सम्भोग को अभिव्यक्त कर रही है । 'मिथ्यावादिनि' सम्बोधन देकर उस नायक के पास बिना गयी ही 'मैं उसके पास जाकर और विविध प्रकार से उसे मनाने पर भी वह नहीं आया' इस प्रकार झूठे ही बता रही हो, यह व्यञ्जित किया गया है । 'अज्ञातपीड़ागमे' सम्बोधन से 'स्वार्थपरायणता' व्यक्त की गयी है । 'दूति' सम्बोधन देकर उसकी 'मिथ्याभाषण-शीलता' व्यक्त की गयी है, इसीलिए नायिका ने उसे 'सखि' पद से सम्बोधित नहीं किया है क्योंकि वह नायिका की प्रतारणा कर रही है । 'स्तनतटं' पद से स्तन के प्रान्तभाग (तट) पर मर्दन अधिक किये जाने से उस पर से चन्दन पुछ गया है, क्योंकि अन्यत्र नायक के हाथ का स्पर्श न होने से वहाँ का चन्दन यथास्थित बना हुआ है, यह बात सूचित की गयी है । 'अधर' पद से कामशास्त्र में अधरोष्ठ का ही चुम्बन करना कहा गया है । इसलिए अधरोष्ठ की ही रक्तिमा दूर हुई है, यह बताया गया है । 'दूरमनञ्जने' इससे प्रान्त भाग में ही नेत्रचुम्बन का विधान कामशास्त्र ने बताया है, इस कारण प्रान्त भाग की ही अञ्जनशून्यता हुई है, यह

(सू० ३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

वृत्तिः—अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

बताया गया है, इन सब में प्रधानतया व्यञ्जक **'अधम'** पद ही है । क्योंकि 'अन्य नायिकासम्भोग' **विप्रलम्भ** का उद्दीपक होने से वाच्यार्थ की अपेक्षा उसमें व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त प्रतीत हो रहा है । यही उसमें प्रधानता है ।

काव्य भेदः २--गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—

इसके पूर्व **'ध्वनि-काव्य'** का लक्षण और उदाहरण कहने के पश्चात् काव्य के **'गुणीभूतव्यङ्ग्य'** नामक द्वितीय भेद का लक्षण बताते हुए उसका उदाहरण भी बता रहे हैं—

मध्यमकाव्य

(सू० ३)—'व्यङ्ग्यार्थ' वैसा न होने पर अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण न होने पर **'गुणीभूतव्यङ्ग्य'** नामक दूसरे प्रकार का काव्य होता है, जिसे **'मध्यम काव्य'** कहते हैं ।

'अतादृशि' का अर्थ, वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्तम न होने पर'--किया गया है । इसी स्थिति में **'गुणीभूत व्यङ्ग्य** काव्य होता है । जैसे--

अशोक वृक्ष की ताजी तोड़ी हुई मञ्जरी को हाथ में लिए हुए ग्राम के नवीन तरुण नायक को देख-देखकर तरुणी के मुख की कान्ति मलिन होती जा रही है ॥ ३ ॥

'यहाँ अशोक अथवा वेतस् के लतागृह में ग्रामतरुण के साथ मिलने और स्वयं संकेत देकर भी गृहकार्य में लगे रहने के कारण निकलने का समय न मिलने से तरुणी नायिका निश्चित समय पर वहाँ नहीं जा पाई, किन्तु ग्रामतरुण समय पर पहुँच गया । उसे देखकर तरुणी की मुखकान्ति मलिन हो रही है ।'

यहां व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी प्रतीत हो रहा है । उस कारण यहां व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो गया है । इसलिये यह **गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ-नामक मध्यम काव्य** का उदाहरण है ॥ ३ ॥

विशेष विवरण--'ग्रामतरुण' पद से यह व्यक्त किया गया है कि ग्राम में एक ही तरुण है । अनेक युवतियों के द्वारा चाहे जाने के कारण उससे पुनर्मिलन होना बड़ा कठिन है । इसलिए पश्चात्ताप की अधिकता व्यक्त हो रही है । 'तरुणं तरुण्या' पद से

वृत्ति—अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

(अधमकाव्यम्)

(सू० ४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

वृत्तिः—चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरमधमम् ।

दोनों के तरुण रहने के कारण परस्परानुराग का उत्कर्ष अभिव्यक्त किया गया है। इस 'मध्यम' काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अनतिशायिता (अधिक चमत्कारक न होना) दो प्रकार से होती है। (१)—वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थ जहाँ तुल्य हों, और (२)—वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार जहाँ न्यून (कम) हो। प्रस्तुत उदाहरण व्यङ्ग्यार्थ के न्यून चमत्कार का है। दोनों अर्थों की तुल्यता का उदाहरण पञ्चम उल्लास में 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागः' से दिया जायेगा।

ग्रन्थकार के दिये उदाहरण में "वञ्जुललतागृह में स्वयं संकेत देने पर भी वह नहीं पहुंची" यह व्यङ्ग्यार्थ, गुणीभूत (गौण-अप्रधान) हो गया है, क्योंकि 'तरुणी की मुखकान्ति के मालिन्य की अधिकता रूप वाच्यार्थ' ही पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ से अधिक चमत्कारक (आस्वादजनक) है ॥ ३ ॥

काव्य-भेद-३—चित्रकाव्य (अधमकाव्य)—

इसके पूर्व काव्य के **ध्वनि** (उत्तम) तथा **गुणीभूत व्यङ्ग्य** (मध्यम) भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये गये। अब काव्य के तृतीय भेद **'चित्र-काव्य'** का लक्षण और उदाहरण दे रहे हैं—

अधम काव्य

[सू० ४]—व्यङ्ग्यार्थ से रहित **'शब्दचित्र'** और **'अर्थचित्र'** दो प्रकार का **अधमकाव्य** बताया गया है।

इस काव्य को 'गुण' तथा 'अलंकार' से युक्त होने के कारण **'चित्र'** नाम दिया गया है। उसी तरह **'अव्यङ्ग्य'** का अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीयमान होने वाले व्यङ्ग्यार्थ से रहित किया गया है, क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ-शून्य' काव्य का होना तो सम्भव ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट (स्पष्ट) नहीं हो पाती उसे **अधम** काव्य कहते हैं। **'अवर'** का अर्थ **अधम**

यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्लाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

शब्दचित्र का उदाहरण—

जैसे—

'मन्दाकिनी (गङ्गाजी) वः (तुम्हारे) मन्दताम् (पाप और अज्ञान को) अह्लाय (शीघ्र) भिद्यात् (दूर करे)'। यह उपर्युक्त उदाहरण का प्रधान वाक्य है, अवशिष्ट सभी मन्दाकिनी के विशेषण हैं।

उपर्युक्त श्लोक का भाव यह है कि गङ्गाजी तुम्हारे अज्ञान अथवा पाप को शीघ्र ही दूर करें। जो मन्दाकिनी स्वतन्त्ररूप से उछलती हुई, निर्मल (अच्छ) तट के गर्तों (कच्छ-कुहर) में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा (छातेतराम्बुच्छटा), उससे जिनके अज्ञान का (मोह का) नाश हो गया है, ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें प्रसन्नतापूर्वक सन्तोष के साथ स्नान तथा सन्ध्या-वन्दनादि आह्निक अर्थात् दैनिक कार्य किये जा रहे हैं, इस प्रकार की मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता (अज्ञान) को अथवा पाप को दूर करे।)

मन्दाकिनी के लिए दिये गये विशेषणों से उसकी महर्षियों के द्वारा सेवा किये जाने की योग्यता का प्रतिपादन और दूसरे तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता बता रहे हैं—

'जिनमें बड़े-बड़े मेढक दिखलाई पड़ रहे हैं, ऐसी कन्दराओं से युक्त (उद्यन्तः प्रकाशमानाः उदाराः महान्तः दर्दुराः भेकाः यासु एवं विधाः दर्यः कन्दराः यस्यां सा) और दीर्घकाय तथा अदरिद्र अर्थात् बड़े ऊँचे एवं शाखा-पत्र-पुष्प आदि से लदे हुए जो वृक्ष उनके गिराने (द्रोह) के कारण ऊपर उठने वाली बड़ी-बड़ी लहरों से अत्यन्त गर्व का अनुभव करने वाली (मेदुरमदा) गङ्गाजी तुम्हारे पाप अथवा अज्ञान आदि को शीघ्र नष्ट करें ॥ ४ ॥

इस काव्य में कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है, केवल **छकार** का, **महर्षि-हर्ष** का, **आह्निकाह्लाय** तथा **मन्द मन्द** में 'दकार' का **शब्दालंकारअनुप्रासजन्य चमत्कार** है। इसलिए इसे चित्रकाव्य कहा गया है। यद्यपि यहाँ मन्दाकिनी विषयक 'रति' भाव और अन्य तीर्थों की अपेक्षा इसका आधिक्य वर्णन करने के कारण व्यतिरेक-

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्ध्रुवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति मम्मटभट्ट-विरचिते काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-विशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥

अलंकार व्यङ्ग्य कहा जा सकता है तथापि कवि का तात्पर्य अनुप्रास में है। इसलिए उपर्युक्त व्यङ्ग्य अलंकार और रतिभाव तिरोहित हो जाता है। अतः यह काव्य अव्यङ्ग्य ही है ॥ ४ ॥

अर्थचित्र का उदाहरण—

'हयग्रीव वध' नाटक का यह पद्य है--शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने वाले जिस 'हयग्रीव' को बिना उद्देश्य के ही परिभ्रमणार्थ अपने राजभवन से निकला हुआ सुनकर भी उद्विग्न हुए देवराज इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है उस अमरावती नगरी-रूप नायिका ने भय से द्वाररूप अपनी आँखों को मानों बन्द सा कर लिया ॥ ५ ॥

इस पद्य में 'नेत्रस्थानापन्न' द्वार हैं। भय होने पर नेत्रों को मूँद लेना स्त्रियों का स्वभाव होता है। इस पद्य में वंशस्थ छन्द है, और 'निमीलिताक्षीव' यह उत्प्रेक्षालंकार है। कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षालंकार के प्रदर्शन में होने से यहाँ वीर रसादि के व्यङ्ग्य रहने पर भी वे तिरोहित हो जाते हैं। इसलिये यह अव्यङ्ग्य काव्य है।

प्रथम उल्लास का सारांश--

विशेष विवरण--प्रथम उल्लास में (१) मङ्गलाचरण (२) काव्य के प्रयोजन (३) काव्य के साधन (४) काव्य का लक्षण (५) काव्य के भेदों का वर्णन किया है। **मुख्य रूप से काव्य के तीन भेद दिखाये गये हैं**—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य, (३) चित्रकाव्य। **ध्वनिकाव्य उसे कहते हैं,** जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो। **गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य उसे कहते हैं** जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक अथवा उसके तुल्य चमत्कारपूर्ण रहता है और **चित्रकाव्य उसे कहते हैं** जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट न होती हो। इन तीन भेदों में से 'ध्वनिकाव्य को' 'उत्तमकाव्य', गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य' को 'मध्यमकाव्य' तथा 'चित्रकाव्य' को 'अधमकाव्य'

कहा गया है। चित्रकाव्य की रचना में प्राथमिक विद्यार्थियों की प्रवृत्ति विशेषतया रहा करती है, महाकवियों की नहीं। महाकवियों की तो प्रधानतया ध्वनिकाव्य के निर्माण में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव चित्रकाव्य को अधम या अवर काव्य कहा जाता है। यही कारण है कि आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में "प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्।" कहा है।

मम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के प्रयोजन-कारण तथा स्वरूप-विशेष निर्णय नामका प्रथम उल्लास समाप्त हुआ।

अथ द्वितीय उल्लासः

(शब्दार्थ-स्वरूपनिरूपणात्मकः)

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(शब्दत्रैविध्यम्)

(सू० ५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ॥

वृत्तिः—अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

द्वितीय उल्लास--

काव्य का लक्षण कहने के पश्चात् लक्षण में दिये गये 'शब्दार्थौ' का विवेचन करने के लिए ग्रन्थकार अवसर प्राप्त होने के कारण शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बता रहे हैं—

शब्द की त्रिविधता—(तीन भेद)-

[सू० ५]—यहाँ (काव्य में) **वाचक, लाक्षणिक** और **व्यञ्जक**-भेद से शब्द के तीन प्रकार होते हैं ।

'अत्र=यहाँ अर्थात् 'काव्य में' यह अर्थ समझना चाहिए । इन वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों का स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

विशेष विवरण--शब्द के ये तीन भेद केवल साहित्य-शास्त्र में ही उपलब्ध होते हैं, अन्य शास्त्रों में वाचक और लक्षक इन द्विविध शब्दों का ही स्वीकार किया गया है । इसी कारण ग्रन्थकार को **'अत्र'** शब्द का विशेषरूप से प्रयोग करना पड़ा और उसका अर्थ 'काव्य में' कहना पड़ा । क्योंकि यदि साहित्यिक विद्वान् अन्य शास्त्रों के समान 'व्यञ्जक' शब्द न बतावें तो काव्य में किसी प्रकार का चमत्कार ही न रहेगा । इन तीन प्रकार के शब्दों में 'वाचक' शब्द मुख्यार्थ को बताता है इसलिए उसे सर्वप्रथम रखा गया है । **'लाक्षणिक'** शब्द **'वाचक'** शब्द पर आश्रित रहने के कारण उसे वाचक के पश्चात् रखा गया तथा **व्यञ्जक शब्द** को पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा रहती है इसलिए उसे तृतीय स्थान दिया गया है । शब्द का यह त्रिविध भेद केवल उसकी उपाधि के कारण किया गया है । वह भेद शब्द का अपना निजी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का विभाग शब्दों में निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक

(अर्थत्रैविध्यम्)

(सू० ६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(चतुर्थः तात्पर्यार्थः)

(सू० ७)—तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये

व्यञ्जक है। एक ही शब्द तीनों प्रकार के रूपों को धारण कर सकता है। अतः उक्त त्रिविध भेद शब्द के न होकर उसकी उपाधियों के हैं।

अर्थ के तीन भेद—

उपाधि के कारण शब्द के जैसे तीन भेद होते हैं उसी तरह अर्थ के भी तीन भेद होते हैं—

[सू० ६] उन वाचक, लक्षक और व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं।

वाच्येति। 'वाच्य आदि' शब्द से वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य समझने चाहिएँ।

अर्थ का चौथा भेद—'तात्पर्यार्थ'—

[सू० ७] कुमारिलभट्ट आदि कतिपय मीमांसकों के मत में उक्त त्रिविध अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का 'तात्पर्यार्थ' भी होता है ॥ ६ ॥

विशेष विवरण—अर्थ की विवेचना करते हुए **मम्मटभट्ट** ने 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' कहकर मीमांसकों के सिद्धान्त को बताया है। शब्दार्थ का विवेचन, व्याकरण, न्याय और मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेषरूप से पाया जाता है। **व्याकरणशास्त्र** पद-पदार्थों का विवेचन करता है, इसलिए उसे **'पदशास्त्र'** कहते हैं। **न्यायशास्त्र** प्रमाणों का विवेचन करता है इसलिए उसे **'प्रमाणशास्त्र'** कहते हैं। **मीमांसाशास्त्र** वाक्यार्थ करने की पद्धति को बताता है इसलिए उसे **'वाक्यशास्त्र'** कहते हैं। किसी भी वाक्य का वाक्यार्थ-बोध (शाब्द-बोध) करने में उक्त तीनों शास्त्रों का उपयोग होता है। यही कारण है कि शाब्द-बोध करने में कुशल विद्वानों को **'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण'** इस अलङ्करण से विभूषित किया जाता रहा है।

वाक्यार्थ के सम्बन्ध में मीमांसकों की दो धारायें प्रसिद्ध हैं। कुमारिलभट्ट की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अभिहितान्वयवाद'** को मानते हैं और प्रभाकर 'गुरु' की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अन्विताभिधानवाद'** को मानते हैं।

अभिहितान्वयवाद—

इस सिद्धान्त में प्रथमतः पदों से पदार्थों की प्रतीति अभिधा-शक्ति से होती है।

तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

तदनन्तर उन **अभिहित पदार्थों** का परस्पर सम्बन्ध **वाक्यार्थ-मर्यादा** से उपस्थित होता है, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था। इसलिए प्रथमतः **पद** अपनी **अभिधा-शक्ति के द्वारा** पदार्थों का बोधन करते हैं। बाद में **वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से उनका आपस में अन्वय** (सम्बन्ध) होता है। तब उससे **वाक्यार्थ** का ज्ञान होता है। इस रीति से **वाक्यार्थ-बोध** होने में अभिधा-शक्ति से अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त को **'अभिहितान्वयवाद'** कहते हैं। इस सिद्धान्त में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध **वक्ता के तात्पर्य के अनुसार** होता है। इसी कारण उस सम्बन्ध (संसर्ग) को 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं तथा उसी को 'वाक्यार्थ' भी कहते हैं। उस वाक्यार्थ की बोधकशक्ति को **'तात्पर्याख्याशक्ति'** कहते हैं। यह शक्ति पूर्वोक्त तीनों शक्तियों से भिन्न **चौथी शक्ति** है। इसका उल्लेख **तन्त्रवार्तिक** की व्याख्या **न्यायसुधा** में **सोमेश्वरभट्ट** ने किया है। ग्रन्थकार की दृष्टि से यद्यपि यह **तात्पर्याशक्ति चौथी** है तथापि **मीमांसकों** की दृष्टि से वह तीसरी ही है, क्योंकि मीमांसक **व्यञ्जनाशक्ति** को स्वीकार नहीं करते हैं।

ग्रन्थकार स्वयं अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का परिचय करा रहे हैं—**आकाङ्क्षेति**। मूल ग्रन्थ की इस पंक्ति को सरलता से समझने के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् समन्वये'। पदार्थों के होने वाले परस्पर सम्बन्ध को यद्यपि पदों के द्वारा नहीं बताया जाता तथापि आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि के बल पर वह भासित होता है। उसी को **तात्पर्यार्थ** एवं **वाक्यार्थ** कहते हैं। इसी अभिप्राय को **ग्रन्थकार** ने **'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति'** शब्दों से कहा है। अब मूल पंक्ति का अर्थ यह हुआ कि जिन पदार्थों का स्वरूप आगे कहा जायेगा उन पदार्थों का **आकाङ्क्षा-योग्यता** और **सन्निधि** के बल से परस्पर सम्बन्ध (समन्वय) होने पर पदों से प्रतीत न होने वाला अर्थ भी वक्ता के **तात्पर्य** का विषय होने के कारण उसे विशेष प्रकार का **तात्पर्यरूप वाक्यार्थ** प्रतीत हुआ माना जाता है। यह **अभिहितान्वयवादियों** (कुमारिलभट्ट के अनुयायियों) का मत है।

विशेष विवरण—श्रोता की 'जिज्ञासा' को ही **आकाङ्क्षा** कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अन्य पदों की 'आकाङ्क्षा' होती है, उन पदों के समुदाय को ही **वाक्य** कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अर्थज्ञान के लिए अन्य पदों की आकाङ्क्षा जहाँ नहीं रहती, उन्हें वाक्य नहीं कहते। जैसे—'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती'

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।

इस प्रकार के आकांक्षारहित पदसमुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में किसी प्रकार की बाधा का अभाव रहना ही **'योग्यता'** शब्द से कहा जाता है। पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में जहाँ कोई बाधा होती है वहाँ उस पदसमुदाय को **वाक्य** नहीं कहते और न उससे वाक्यार्थबोध ही होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' यहाँ पद-समुदाय तो है, किन्तु 'योग्यता' नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'वह्नि' से सिंचाई नहीं कर सकता। इस कारण 'वह्नि' और 'सिञ्चन' के सम्बन्ध में बाधा उपस्थित हो जाने से उपर्युक्त पदसमुदाय में योग्यता का अभाव है। इसलिए 'वह्निना सिञ्चति' को **वाक्य** नहीं कहा जाता। एक ही व्यक्ति के द्वारा विना विलम्ब किये अनेक पदों का उच्चारण करना **'सन्निधि'** शब्द से कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति विलम्ब से अर्थात् एक-एक, दो-दो, तीन-तीन घंटे के अन्तर से अनेक पदों का उच्चारण करे भी तो उसे वाक्य नहीं कहेंगे, क्योंकि उन पदों के उच्चारण में **'सन्निधि'** (आसत्ति) नहीं है। अतः **आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि** से युक्त **पदसमुदाय** को ही वाक्य कहते हैं और उसी से **वाक्यार्थ-बोध** होता है। निष्कर्ष यह है कि—**अभिहितान्वयवाद** में पहले पदों से केवल **पदार्थ** (अनन्वित-पदार्थ) उपस्थित होते हैं। उसके पश्चात् पदों की परस्पराकाङ्क्षा, उनकी योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याशक्ति के द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) होता है। **तात्पर्या वृत्ति** स्वीकार करने की आवश्यकता इसलिए होती है कि यदि बिना वृत्ति के अर्थ-बोध माना जाय तो अतिप्रसङ्ग होने लगेगा। इसलिए वाक्यार्थरूप संसर्ग (सम्बन्ध) के लिए शब्द की **तात्पर्यावृत्ति** को मानना आवश्यक हो जाता है, और उस वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ **'तात्पर्यार्थ'** कहलाता है।

अन्विताभिधानवाद--

पहले बता चुके हैं कि वाक्यार्थबोध (शाब्दबोध) के संबंध में दूसरी धारा **'अन्विताभिधानवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह धारा **प्राभाकरमत** के अनुयायियों की है। इस धारा में यह बताया जा रहा है कि प्रथमतः ही 'अभिधाशक्ति' के द्वारा वाक्यगत पद, 'अन्वित पदार्थों' को ही बताते हैं। इसी कारण इसे **अन्विताभिधान** कहा गया है, क्योंकि **'अन्वित अर्थ'** का ही इसमें अभिधान (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादन) होता है। इस सिद्धान्त में पदार्थों का अन्वय कराने के लिए 'तात्पर्या-शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अर्थों का अन्वय तो पहले से ही सिद्ध है।

वाच्य एवेति। **प्राभाकर** के 'अन्विताभिधानवाद' को बताने वाली मूलपंक्ति का

अर्थ इस प्रकार है—'पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ'—**वाच्य ही** होता है। अर्थात् उसे बताने के लिए **तात्पर्याशक्ति** की आवश्यकता नहीं होती। यह **अन्विताभिधानवादियों** का मत है।

विशेष विवरण—भाट्टमत में 'तात्पर्याशक्ति' मानने की आवश्यकता इसलिए होती है कि **वाक्यगत प्रत्येक पद**, 'अभिधाशक्ति' के द्वारा अपने-अपने अर्थ को ही केवल बताते हैं। अर्थात् पहले केवल पदार्थ ही अभिहित (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादित) होते हैं, और बाद में उन अभिहित पदार्थों का **आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि** (आसत्ति) के बल पर परस्पर **अन्वय** (सम्बन्ध) किया जाता है। 'पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध', पदों के द्वारा उपस्थित न होने पर भी **आकांक्षा** आदि के द्वारा **उस** (सम्बन्ध) **का** भासित होना ही **'तात्पर्यार्थ'** (वाक्यार्थ) है। यही दोनों मतों में अन्तर है। **प्राभाकरमत में** 'वाक्यार्थ और वाच्यार्थ' **एक ही** है, भिन्न-भिन्न नहीं है। 'अभिधा शक्ति' से जो अर्थ बताया जाता है उसे ही **'वाच्यार्थ'** (शक्यार्थ, मुख्यार्थ) कहते हैं, और **'अन्वित अर्थ'** को **वाक्यार्थ** कहते हैं। उस 'अन्वित अर्थ-रूप वाक्यार्थ' को ही जब **अभिधाशक्ति** के द्वारा बताया जाता है, तब उस **वाक्यार्थ को ही वाच्यार्थ कहना पड़ता है**। और **भाट्टमत में वाक्यार्थ** और **वाच्यार्थ** भिन्न-भिन्न हैं, **दोनों एक नहीं हैं**। क्योंकि 'पद' अपने-अपने शुद्ध (अनन्वित) अर्थ को ही **अभिधाशक्ति** के द्वारा बताते हैं, इसलिए वे 'शुद्ध अर्थ' ही **वाच्यार्थ** हैं। बाद में **उन अभिहित अर्थों** (वाच्यार्थों) का **वक्ता के तात्पर्य** (तात्पर्या-वृत्ति) के अनुसार **परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि** के अनुरोध से 'अन्वय' (सम्बन्ध) होता है। तब **अन्वितार्थ** प्रतीत होता है, जो 'किसी पदका' अपना **शुद्ध अर्थ** नहीं है, वही **'वाक्यार्थ'** कहलाता है। इसलिए इस मत में **वाच्यार्थ** और **वाक्यार्थ** भिन्न-भिन्न हैं।

प्राभाकर अपने **'अन्विताभिधानवाद'** को पुष्ट करने के लिए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि पदों से पदार्थों का ज्ञान **संकेतग्रह** के पश्चात् ही होता है। और वह **संकेतग्रह** (संकेत का ग्रहण=ज्ञान) 'लोक-व्यवहार' से होता है। जैसे—**कोई छोटा बालक** या बोलने वालों की भाषा (बोली) न समझने वाला कोई **अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति**, जिसे यह ज्ञान नहीं है कि 'किस शब्द' का क्या अर्थ है? वह देखता-सुनता रहता है कि किसी ने किसी से कहा कि 'पुस्तकम् आनय'। तब दूसरा व्यक्ति पुस्तक लाता है। किन्तु समीप बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषा भाषी व्यक्ति न 'पुस्तक' का अर्थ और न 'आनय' का अर्थ जानता है। **तथापि** उसने एक के 'शब्दों' को सुना है और दूसरे के 'व्यापार' (कार्य) को देखा है। उससे उसके मन पर एक संस्कार पैदा होता है। तदनन्तर कहने वाला व्यक्ति पुनः किसी

(अर्थानां व्यञ्जकता)

(सू० ८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ॥

तत्र वाच्यस्य यथा—

(वाच्यार्थस्य व्यञ्जकता)

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण बासरो ठाइ ॥ ६ ॥
(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी) ॥ ६ ॥

से कहता है कि--'पुस्तकं नय, वस्त्रम् आनय' । तब सुनने वाला व्यक्ति पुस्तक ले जाता है और वस्त्र ले आता है । वहाँ बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति 'बोलने वाले के शब्दों' को सुनता है । और 'दूसरे के द्वारा की जाती हुई क्रिया' को देखता है । उस कारण वह बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति धीरे-धीरे 'पुस्तक ले जाओ, वस्त्र लाओ' उक्त शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों को समझने लगता है । इस व्यवहार से उसे 'संकेतग्रह' होता है । यह संकेतग्रह केवल 'शुद्ध अर्थ' में न होकर उस 'अन्वित अर्थ' में ही होता है । अतः कहना होगा कि किसी भी 'पद' का 'अनन्वित अर्थ' में संकेतग्रह न होने से उस 'अनन्वित अर्थ' की उपस्थिति भी 'पद' से नहीं होती है । इसलिए 'अन्वित अर्थ' का ही बोधन 'अभिधा-शक्ति' के द्वारा किया जाता है । अतः अन्विताभिधानवाद का स्वीकार करना उचित ही है ।

पूर्वोक्त तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व—

अभी तक ग्रन्थकार ने तीन प्रकार के शब्द और उनके तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया । साथ ही अभिहितान्वयवादियों के मत में तात्पर्यार्थ भी होता है, यह बताया ।

अब ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि उक्त तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जकत्व भी रहता है । अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है ।

अर्थों की व्यञ्जकता—

[सू० ८] प्रायः सभी अर्थों में व्यञ्जकत्व भी माना जाता है ।

तत्रेति । उनमें से वाच्य अर्थ के व्यञ्जकत्व का (व्यञ्जक होने का) उदाहरण दे रहे हैं । जैसे—

माए इति । (मातरिति) । हे मातः ! आज घर में सामग्री (दाल, चावल, आटा, ईन्धन आदि) नहीं है, ऐसा तुमने कहा है, तो अब बताओ कि क्या करना है ?

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

(लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकता)

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्तो सहि सुहअं खणे खणे दुम्मिआसि मज्झकए ।
सम्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ७ ॥

क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा, अर्थात् थोड़ी ही देर में दिन ढल जायेगा, तब क्या होगा ॥ ६ ॥

अत्र स्वैरविहारेति । यहाँ व्यभिचारिणी रूप वक्त्री के सम्बन्ध से 'यह स्वैर-विहारार्थिनी है' यह बात 'व्यंजना' से सामाजिकों के समझ में आ जाती है ।

विशेष विवरण—यहाँ **कहने वाली के वैशिष्ट्य के कारण वाच्यार्थ, 'व्यञ्जक' बन गया है ।** उपनायक के साथ समागम की इच्छा रखने वाली 'कोई स्वैरिणी स्त्री' लकड़ी-ईंधन, दाल, चावल आदि लाने के बहाने बाहर जाने के लिए अपनी 'सास' से कह रही है ।

इस काव्य में **'किं करणीयम्'** अर्थात् करने के लिए कुछ नहीं है, यह सूचित किया गया है । 'किम्' शब्द क्षेपार्थक है । दूसरी बात यह है कि **'वासर'** (दिवस) **'एवमेव'** (इसी प्रकार से) **'स्थायी'** (स्थिर) नहीं रहेगा । और **'मातः'** कहने से उसकी आज्ञा उल्लंघनीय नहीं है, यह सूचित किया गया है । **'गृहे'** कहने से आवश्यकता सूचित की गयी है । **'उपकरणम्'** कहने से अन्य प्रकार से उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है, यह सूचित किया गया है । इसी प्रकार **'अद्य'** कहने से आज ही जुटाना उचित है, **'साधितम्'** कहने से घर में कुछ होने की संभावना भी नहीं है, **'त्वया'** कहने से मेरी अपनी कल्पना नहीं है, **'तत्'** कहने से तुम्हें अवश्य बताना है, **'भण'** कहने से मैं तुम्हें पूछ रही हूँ, **'एवमेव'** कहने से दिन ढल जाने पर तुम कहोगी तो भी मुझ जैसी **'कुलाङ्गना'** का बाहर निकलना ठीक नहीं होगा अर्थात् मैं बाहर नहीं ही निकलूँगी—यह सूचित किया गया है ।

इस पद्य के द्वारा कहने वाली व्यभिचारिणी अर्थात् स्वैरविहारार्थिनी यह स्त्री है अर्थात् यह कहने वाली बहू स्वच्छन्द विहार करने के लिए उपपति के पास जाना चाहती है—इस व्यङ्ग्यार्थ को व्यञ्जना के द्वारा रसिक सामाजिक लोग समझ लेते हैं । **इस वक्तृवैशिष्ट्य के कारण यहाँ वाच्यार्थ ही 'व्यञ्जक' हुआ है ॥ ६ ॥**

लक्ष्यस्येति । बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण, जैसे—

साहेन्तीति । (साधयन्तीति) । हे सखि ! उस सुन्दर नायक के पास बार-बार

(साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया) ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यं तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

(व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकता)

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रहेइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व्व ॥ ८ ॥

जाकर मेरे लिए उसकी अनुनय विनय करते हुए तुमने बड़ा कष्ट उठाया है । मेरे प्रति अपनी सद्भावना और स्नेह के उचित जो तुम्हें करना चाहिए था वह तुमने कर लिया ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियमिति । इस पद्य में **'मेरे प्रियतम'** के साथ **'रमण'** करके तूने मेरे साथ **'शत्रुता'** निबाही है—**'यह लक्ष्यार्थ'** है और उससे 'कामुक के अपराधी होने का प्रकाशन' व्यङ्ग्य है ।

विशेष विवरण—इस काव्य में सखी की ज़बान से अनुमित (कल्पित) 'स्वभिन्नोपभुक्तत्व' रूप अर्थ से 'मित्रत्व' रूप **मुख्यार्थ** का बाध होने के कारण **'सदृश'** पद से 'शत्रुत्वाचरण' रूप विसदृश अर्थ **लक्षित** होता है । **'मत्कृते'** कहने से **'स्वकृते'** और **'दूनासि'** कहने से **'हृष्टासि'** अर्थ **लक्षित** होता है । **इस लक्ष्य रूप वाक्यार्थ से 'कामुकी और कामुक दोनों सापराध हैं'—इस व्यङ्ग्यार्थ को सहृदय लोग व्यञ्जना के द्वारा समझ लेते हैं ।**

इस काव्य के द्वारा बताया हुआ **'वञ्चिता नायिका'** का कथन प्रथम उल्लास के ध्वनि काव्य के उदाहरण **'निःशेषच्युतचन्दनं'** के समान ही प्रतीत हो रहा है । उसमें भी **'विदग्ध उत्तम नायिका'** के द्वारा भेजी हुई दूती ने उसका सन्देश उसके नायक से कहने के बजाय स्वयं उसके साथ स्वैर विहार (रति-क्रीड़ा) करके उत्तम नायिका की जैसे प्रतारणा की है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी इस **'वञ्चिता नायिका'** की सखी ने स्वयं ही उसके प्रियतम के साथ रतिसुख का आनन्द लेकर उसकी प्रतारणा की है । यह बात वक्ता तथा बोद्धा (कहने वाले तथा समझने वाले) के वैशिष्ट्य से व्यञ्जित होती है । इस रीति से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखाया गया है ॥ ७ ॥

व्यङ्ग्यस्येति । अब **व्यङ्ग्यार्थ** के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखा रहे हैं । जैसे—

उअेति । (पश्येति) । देखो, कमलिनी के पत्र पर निश्चल और निष्पन्द (बिना हले-डुले) बैठी हुई यह बलाका (बगुली) निर्मल मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शङ्खाकार सीप की तरह शोभा दे रही है ॥ ८ ॥

(पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव) ॥ ८ ॥

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं । तेन च जनरहितत्वम् , अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चित्प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

(वाचकशब्दलक्षणम्)

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(सू० ९) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

अत्र निष्पन्दत्वेनेति । यहाँ पर 'बलाका निष्पन्द, निश्चल बैठी है' यह **'वाच्यार्थ'** है इस वाच्यार्थ से 'बलाका की आश्वस्तता' अर्थात् निर्भयता **लक्षित** होती है । और 'उस आश्वस्तत्व' रूप लक्ष्यार्थ से **'यह स्थान जनरहित है, एकान्त स्थान है'**, यह **व्यंग्यार्थ** निष्पन्न होता है । **इस व्यंग्यार्थ से 'यह संकेत स्थान उत्तम है'** यह **दूसरा व्यङ्ग्यार्थ** मिलता है । इस प्रकार से कोई नायिका अपने किसी कामुक प्रिय को सूचित कर रही है ।

अथवा 'तुम मिथ्या बोल रहे हो । तुम यहाँ नहीं आये' ऐसा **व्यङ्ग्यार्थ** सूचित किया जा रहा है । क्योंकि 'यदि तुम आये होते तो यह बलाका ऐसी निश्चल–निष्पन्द कदापि नहीं रह सकती थी' अतः यह अर्थ, प्रथम-व्यंग्यार्थ से व्यंजना द्वारा सूचित होता है ॥ ८ ॥

विशेष विवरण—स्थानान्तर प्रापिका शरीर-क्रिया को **'चलन'** कहते हैं और स्थानान्तर में अप्रापिका अवयव क्रिया को **'स्पन्द'** कहते हैं । अतः 'निश्चल' 'निष्पन्द' कहने से **'पुनरुक्ति'** नहीं समझनी चाहिए । **संभोग** की अपेक्षा **विप्रलंभ** की मधुरता अधिक रहने से ग्रन्थकार ने **'अथवा'** कहकर जो व्यङ्ग्यार्थ बताया है कि संकेत स्थान पर बगुले की निष्पन्दता से स्पष्ट है कि वहाँ किसी के आने की आहट तक नहीं हो पायी है । इसलिए तुम झूठ कह रहे हो कि 'मैं आया था किन्तु तुम नहीं आयी ।' इस व्यंग्यार्थ को मिथ्यावादी के प्रति वह व्यक्त कर रही है ॥ ८ ॥

वाचक शब्द का स्वरूप (लक्षण)—

वाचकादीनामिति । **'तीन प्रकार के शब्दों तथा अर्थों'** को बताकर अब **वाचक आदि त्रिविध शब्दों के स्वरूप को क्रमशः बताते हैं—**

[सू० ९] साक्षात् संकेतित अर्थात् व्यवधान रहित 'संकेत–ग्रहण' जिसका किया गया हो, ऐसे अर्थ को जो शब्द, अभिधा शक्ति के द्वारा बताता है उसे **'वाचक'** शब्द कहते हैं ॥ ९ ॥

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थ-विशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

इहागृहीत० इति । लोक-व्यवहार में संकेत-ग्रहण किये विना शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हुआ करती । इसलिए शब्द को अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करने के लिए संकेत की सहायता लेनी पड़ती है । अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में व्यवधान से रहित संकेत-ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का **'वाचक'** कहा जाता है ।

विशेष विवरण—शब्द के अर्थज्ञान से रहित लोगों को संकेत-ग्रह कैसे हुआ करता है ? उसे हम अभी बता चुके हैं । 'किसी वस्तु को यहाँ रखो, वहाँ से उठाओ' इस प्रकार के व्यवहार में एक शब्द को हटाकर दूसरे शब्द का, वैसे ही एक अर्थ की जगह दूसरे अर्थ का रखा जाना इत्यादि प्रक्रिया को **'आवाप-उद्वाप'** कहते हैं । **'निष्कर्ष'** यह है कि लोकव्यवहार में संकेत का ग्रहण आवाप-उद्वाप के द्वारा होता है । इसलिए संकेत ग्रहण का प्रधान साधन 'लोकव्यवहार' को ही समझा जाता है । लोक-व्यवहार के अतिरिक्त अन्यान्य उपाय भी निम्नलिखित कारिका में बताये गये हैं--

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष; विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध (ज्ञात) पद के सान्निध्य से 'संकेत' का ग्रहण होना बताया गया है ।

इनमें 'पठ्' पढ़ना आदि धातुपाठ से अथवा 'आधारोऽधिकरणम्' आदि सूत्रों से 'पठ्' धातु तथा 'अधिकरणम्' आदि पदों का 'संकेत-ग्रहण' 'व्याकरण' से होता है । यथा--'गौः तथा गवयः' यह 'उपमान प्रमाण' का उदाहरण है । इसकी सहायता से 'गवय' शब्द का संकेत-ग्रहण हो जाता है । 'कोष' तथा 'आप्तवाक्य' से नवीन वस्तुओं के नाम का ज्ञान होना सर्वानुभव-सिद्ध ही है । 'विवृति' (व्याख्या) से भी संकेत-ग्रह होता है । उसी तरह 'वाक्य-शेष' और 'सिद्ध-पद' (ज्ञात शब्द) की 'सन्निधि' से नवीन शब्द के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है । ये सब संकेतग्रह के उपाय बताये गये हैं ॥ ९ ॥

संकेतयुक्त अर्थ के विषय में अनेक मत—

यह संकेतग्रह (शक्तिग्रह) किसमें होता है ? इस प्रश्न पर अनेक लोगों के अनेक विचार हैं–कुछ लोग **'जाति'** में, कुछ लोग **'व्यक्ति'** में और कुछ लोग **'जाति-विशिष्ट व्यक्ति'** में संकेत ग्रह (शक्तिग्रह) का होना मानते हैं । यद्यपि साधारणतया सम्पूर्ण लोकव्यवहार व्यक्ति से ही सम्बन्धित देखा जाता है तथापि प्रत्येक व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने पर **'आनन्त्य'** और एक व्यक्ति में मानने पर **'व्यभिचार'** ये दो

(सङ्केतितार्थे विप्रतिपत्तिः)

(सू० १०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाऽप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषा-

---

दोष होते हैं। इसलिए 'व्यक्ति' में संकेतग्रह को न मानकर महाभाष्यकार ने शब्द के—'जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द' ये चार विभाग किये हैं। यदि 'व्यक्ति' में ही संकेतग्रह मानें तो महाभाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित यह चार प्रकार का शब्दविभाग नहीं बन पायेगा, क्योंकि 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' 'डित्थः' इन चारों शब्दों से 'व्यक्ति' का ही बोध होगा। इसलिए 'व्यक्ति' में शक्ति न मानकर उसके उपाधिभूत 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' धर्मों में ही शक्तिग्रह मानना समुचित प्रतीत होता है। इस उपर्युक्त विचार से ही ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं—

[सू० १०]—'संकेतित अर्थ' जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। अथवा—'मीमांसकों' के मत से केवल 'जाति' को ही संकेतित अर्थ माना जाता है।

यद्यप्यर्थेति। यद्यपि लाना, ले जाना आदि अर्थ-क्रिया का (सफल क्रिया का) निर्वाहक होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार के योग्य 'व्यक्ति' ही होता है। इसलिए व्यवहार को देखकर होने वाला 'संकेतग्रह' (शक्तिग्रह) व्यक्ति में ही होना चाहिए। किन्तु आनन्त्य और व्यभिचार-दोष के उपस्थित होने के कारण उसमें (व्यक्ति में) संकेतग्रह स्वीकार करना ठीक नहीं है। और 'गौः' जातिवाचक, 'शुक्लः' गुणवाचक, 'चलः' क्रियावाचक, 'डित्थः' संज्ञावाचक (यदृच्छावाचक), इन सब शब्दों से केवल व्यक्ति की ही उपस्थिति मानने पर उपर्युक्त चारों पदों का विषय-विभाग नहीं बनता है। इस कारण भी 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर व्यक्ति की उपाधिभूत 'जाति', 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' रूप धर्म में ही शक्तिग्रह होता है।

उपाधि के भेद से शब्दों का चतुर्विध विभाग—

उपाधिश्चेति। यह उपाधि मुख्यतया दो प्रकार का होता है। (१)—वस्तु का यथार्थ धर्म और (२)—वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से उस अर्थ में आरोपित। वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मकरूढि शब्दों में रहता

धानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये 'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति'। द्वितीयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक

है। **वस्तु धर्म** भी दो प्रकार का होता है—(१)-सिद्धरूप (२)-साध्यरूप। **सिद्धरूप वस्तुधर्म** भी दो प्रकार का होता है—(१) पदार्थ का प्राणप्रद (जीवनाधायक), और (२) विशेषता का आधान कराने का कारण।

(१) **तत्राद्य इति**। इनमें से पहला अर्थात् वस्तु का प्राणप्रद सिद्धधर्म **'जाति'** कहलाता है। **भर्तृहरि ने वाक्यपदीय** ग्रन्थ में कहा है कि—'गौ' स्वरूपतः न 'गौ' होती है और न **'अगौ'** होती है। किन्तु **'गोत्व-जाति'** के सम्बन्ध से ही वह 'गौ' कहलाती है। इसलिए वस्तु के **प्राणप्रद** अर्थात् **जीवनाधायक** वस्तु-धर्म को ही **'जाति'** कहते हैं।

(२) **द्वितीय इति**। दूसरा अर्थात् वस्तु का **विशेषाधानहेतुभूत सिद्ध वस्तु-धर्म गुण'** कहलाता है। क्योंकि 'शुक्ल' आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से भिन्नता को प्राप्त होती है। **'गौः'** के साथ गुणवाचक 'शुक्ल' विशेषण दूसरी गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता को (भिन्नता को) सूचित करता है।

(३) **साध्य इति**। इनमें से **साध्यरूप वस्तुधर्म 'क्रिया'** कहलाता है। यह **साध्यरूप वस्तुधर्म** पूर्वापरीभूत समस्त व्यापार क्रियारूप होता है, अर्थात् चावलादि के पकाने में चूल्हा जलाकर उस पर बर्तन रखने से लेकर उसके उतारने तक पहले-पीछे किये जाने वाले सम्पूर्ण व्यापार-कलाप को **'क्रिया'** शब्द से कहते हैं।

(४) **डित्थेति**। **'डित्थ'** आदि किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक रूढि शब्दों का पूर्व-प्रदर्शित स्फोट की प्रक्रिया के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-जनित संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से गृहीत होने वाला गकार, ओकार, विसर्जनीय आदि के क्रम-भेद से रहित बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाले पदस्फोटात्मक स्वरूप को वक्ता की अपनी इच्छा के अनुसार **डित्थ** आदि पदार्थों में उपाधि रूप से (वाचक रूप से) सन्निविष्ट किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु (व्यक्ति-विशेष) का नामकरण करने वाला व्यक्ति, संज्ञारूप रूढ़ शब्द का उस वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है, अर्थात् यह व्यक्ति अमुक नाम से समझा जायेगा। इस प्रकार यह **रूढ़ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द** होता है।

इस रीति से **मम्मटभट्ट** ने यहां तक यह बताया कि संकेतग्रह **'व्यक्ति'** में नहीं

इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महा-

---

होता है किन्तु उसके **उपाधिभूतधर्म**—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि—में होता है। उसी के अनुसार शब्दों का चार प्रकार से विभाग किया जाता है। इस चतुर्विध विभाग की पुष्टि के लिए महाभाष्यकार **पतञ्जलि** की सम्मति भी उपस्थित कर रहे हैं—

गौः शुक्ल इति। 'सफेद रंग की', 'चलती हुई', 'डित्थ' नाम की, 'गाय' इत्यादि वाक्य में, **'जाति-शब्द'** के रूप में **'गौः'** पद का, **'गुण शब्द'** के रूप में **'शुक्ल'** पद का, **'क्रिया-शब्द'** के रूप में **'चल'** पद का, और **'यदृच्छा शब्द'** के रूप में **'डित्थ'** पद का प्रयोग करने के कारण शब्दों की प्रवृत्ति (**प्रवृत्ति-निमित्त**) चार प्रकार से होती है यह **महाभाष्यकार** ने कहा है।

'परम अणुपरिमाण' की गुणों में गणना करने का रहस्य—

विशेष विवरण—उपर्युक्त शब्दविभाजन के अनुसार वस्तु के **प्राणप्रदधर्म** का नाम **'जाति'** और उसके **विशेषाधान हेतुभूत धर्म को 'गुण'** कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में 'शुक्ल आदि रूप' के समान **'परिमाण'** को भी **'गुण'** माना है। उस दर्शन में रूप-रसादि चौबीस गुणों में **'परिमाण'** की भी गिनती की गयी है। यह **'परिमाण'** मुख्यरूप से **'अणु'** तथा **'महत्'** दो प्रकार का होता है। किन्तु उन दोनों के साथ **'परम'** शब्द को जोड़कर उनका एक-एक भेद और भी हो जाता है। यानी **अणुपरिमाण के दो भेद होते हैं**—(१) 'अणु परिमाण' और (२) 'परम अणुपरिमाण'। उसी प्रकार **'महत् परिमाण' के भी दो भेद होते हैं**—(१) 'महत् परिमाण' (२) 'परम महत्परिमाण'। इनमें से **'परम अणुपरिमाण'** केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथ्वी आदि द्रव्यों के सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयव में रहता है। इस परम अणुपरिमाण को **'पारिमाण्डल्यपरिमाण'** भी कहते हैं। यह **'परम अणुपरिमाण'** 'परमाणुरूप सूक्ष्मतम पदार्थ' का **प्राणप्रद धर्म है**, विशेषाधान का हेतु नहीं। इस कारण आपकी दी हुई 'जाति की परिभाषा' के अनुसार 'परमाणु परिमाण शब्द' को **'जाति'** शब्द से ही कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में उसे गुणों के साथ पढ़ा गया है। अतः सन्देह होता है कि उसे 'जाति' शब्द से कहें या 'गुण' शब्द से कहें? इस सन्देह के निराकरणार्थ **मम्मटभट्ट** ने कहा कि—वस्तुतः यह **'परम-अणुपरिमाण'** शब्द **'जातिवाचक'** ही है। किन्तु जैसे **'लोक-व्यवहार में'** भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रसिद्ध **'गुण'**, **'वृद्धि'**, **'नदी'** आदि शब्दों का **'व्याकरणशास्त्र में'** स्वकल्पित 'विशेष अर्थ' में प्रयोग किया है, उसी तरह **'वैशेषिक दर्शन'** में भी **'परमाणु-परिमाण'** की गणना **'गुणों'** में की गयी है। इसी अभि-

भाष्यकारः । परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।

परमाण्वादीनामिति । **'परम अणुपरिमाण'** तथा 'आदि' शब्द से **'परम महत्-परिमाण'** में **'प्राणप्रद धर्म'** होने के कारण उन्हें **'जाति'** शब्द से ही कहना उचित है, तथापि **'वैशेषिक-दर्शन'** में उसका 'गुणों' के बीच पाठ कर देने से उस शास्त्र में, **'व्याकरण-शास्त्र'** के नदी, गुण, वृद्धि आदि सांकेतिक संज्ञाओं के समान **'पारिभाषिक गुणत्व'** समझना चाहिए । अर्थात् 'परमाणु-परिमाण' को गुण कहने में **'वैशेषिक दर्शन'** की अपनी एक परिभाषा है ।

विशेष विवरण–पूर्व कह चुके हैं कि **'व्यक्ति'** में शक्तिग्रह मानने पर **'आनन्त्य'** और **'व्यभिचार'** दोष होते हैं । इसलिए **'व्यक्ति'** में **'शक्तिग्रह'** नहीं माना जाता । किन्तु **'व्यक्ति'** के **'उपाधिभूत'** 'जाति, गुण आदि धर्मों' में ही शक्तिग्रह को स्वीकार करना चाहिए । **'जातिरूप धर्म'** में शक्तिग्रह स्वीकार करने पर **'लाभ'** यह होता है कि **'सभी गोव्यक्तियों'** में एक ही **'गोत्वजाति'** समान रूप से रहती है, जिससे समस्त गोव्यक्तियों का ज्ञान हो सकता है । उसी प्रकार **'शुक्लादि गुण'** भी सर्वत्र एक रूप से समान ही है । अतः एक बार शक्तिग्रह हो जाने पर समस्त शुक्ल वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है । प्रत्येक वस्तु (व्यक्ति) में पृथक्-पृथक् शक्तिग्रह (संकेतग्रह) की आवश्यकता नहीं है ।

इस पर कोई कह सकता है कि शङ्ख, दूध, वस्त्र, सीप, मोती, चाँदी आदि भिन्न-भिन्न शुक्ल वस्तुओं में रहने वाला शुक्लरूप अलग-अलग प्रतीत होता है । किसी की शुक्लता अधिक तो किसी की शुक्लता कम प्रतीत होती है, सबकी एक-सी नहीं । इसी तरह **'चावल'** का पकाना, **'ईंटों'** का पकाना आदि **'क्रियाओं'** में **'पाकक्रिया'** भी अलग-अलग ही होती है । इसलिए किसी एक 'शुक्ल' में 'शुक्ल' पद का संकेत-ग्रह हो जाने से सबका ज्ञान नहीं हो पायेगा । जैसे—अनेक 'गोव्यक्तियों' में से किसी एक 'गोव्यक्ति' में शक्तिग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'—दोष उपस्थित होते हैं । उसी प्रकार शङ्ख, दूध आदि वस्तुओं में आश्रित 'शुक्लादि गुणों' तथा 'पाक आदि क्रियाओं' में भी भेद होने से **'आनन्त्य'** एवं **'व्यभिचार'**–दोष उपस्थित होंगे । अतः एक जगह शक्तिग्रह मानने से काम नहीं चल सकता ।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान **भट्ट मम्मट ने** यह दिया है कि—'शुक्ल' आदि गुण और 'पाक' आदि क्रियाओं का भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो अलग-अलग रूप दिखलाई देता है, उसका कारण उन 'शुक्लादि गुणों' का वास्तविक भेद नहीं, बल्कि **'उपाधि'** का भेद है । जैसे—'मुख' एक ही है, किन्तु चमकते हुए सफेद तलवार में, त्र्यस्र-वर्तुलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के शीशे में, अथवा तेल, पानी आदि वस्तुओं में उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देता है । वस्तुतः 'मुख' में

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।

कोई भेद नहीं है। प्रतिबिम्ब में दृष्टिगत होने वाला भेद केवल उपाधिकृत है। उसी प्रकार 'शुक्लादि गुण' और 'पाकादि क्रियाएँ' भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की भले ही दिखाई पड़ें, किन्तु उनकी यह भिन्नता वास्तविक नहीं है, अपितु **'उपाधिकृत'** है। इसलिए गुण, क्रिया आदि में शक्तिग्रह मानने पर कोई दोष प्रतीत नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से **ग्रन्थकार** स्वयं लिख रहे हैं—

गुणक्रियेति। नानाविध वस्तुओं में अलग-अलग प्रकार से प्रतीत होने वाले 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' यद्यपि एक रूप हैं, तथापि आश्रय के भेद से उनमें भेद सा दिखाई देता है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जैसे—एक ही मुख का खड्ग (तलवार), दर्पण तथा तेल आदि आश्रयों की भिन्नता के कारण उनमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भिन्न-से प्रतीत होते हैं, किन्तु वह भेद वास्तविक न होकर औपाधिक हैं। उसी प्रकार 'गुण आदि' में प्रतीयमान भेद भी केवल औपाधिक है। अतः 'गुण आदि' में शक्तिग्रह मान लेने पर 'आनन्त्य' 'व्यभिचार' आदि दोषों की उद्भावना नहीं की जा सकती।

केवल 'जाति' में शक्तिग्रह कहने वाले मीमांसकों का मत—

विशेष विवरण—'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' 'मीमांसकों का कहना है कि **'अर्थ'** में 'शब्द' की प्रवृत्ति का निमित्त केवल **'जाति'** ही है। 'गुण' 'क्रिया' और 'संज्ञा-वाचक' शब्दों का भी अर्थ **'जाति'** ही है। क्योंकि परस्पर भिन्न शुक्ल (सफेद रंग की) 'वस्तु-व्यक्तियों' में सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) 'शुक्लत्व' जाति (सामान्य) ही है। जिसके प्रभाव से सर्वत्र एक ही 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग किया जाता है और एक 'शुक्ल-गुण' का अनुभव भी सर्वत्र होता है। इसीप्रकार क्रिया-वाचक पाक आदि शब्द का अर्थ भी 'पाकत्व' जाति ही है। क्योंकि परस्पर भिन्न तण्डुलपाक, पायसपाक, गुड़पाक, आम्रपाक आदि पाक रूप वस्तु-व्यक्तियों के लिए एक ही **'पाक'** शब्द का व्यवहार किया जाता है और उसी में सबकी प्रतीति भी होती है। इसी प्रकार 'डित्थ' आदि संज्ञा शब्दों का अर्थ भी **'डित्थत्व जाति'** ही है। उसी कारण बालक, वृद्ध, शुक, सारिका आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियों में उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप होने पर भी उसे **'डित्थ'** आदि एकविध शब्द के रूप में पहचान लेते हैं। क्योंकि 'डित्थ' आदि द्रव्यों में भी **'डित्थत्व'** जाति की प्रतीति होती है। यदि इसे न माना जाय तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण परिवर्तनशील वस्तुओं में डित्थादि रूप से एकरूपता कैसे प्रतीत होती? अतः **'डित्थादि'** संज्ञा शब्दों में 'डित्थत्व' जाति का रहना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'—इसमें संकेतित अर्थ के विषय में 'जात्यादिः' और 'जातिरेव वा' इन दो पक्षों को दिखाया गया है। उनमें 'जात्यादि' पक्ष 'वैयाकरणों' और उसके अनुगामी 'आलंकारिकों' का है तथा 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष 'मीमांसकों' का है। 'जात्यादिः' कहने से 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' वस्तु के उपाधि-भूत चार धर्मों में संकेतग्रह होता है, यह कथन 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इस 'महाभाष्य' के आधार पर किया गया है। दूसरा पक्ष 'जातिरेव' वा मीमांसकों का है। अर्थात् मीमांसक शब्द का 'प्रवृत्ति-निमित्त' केवल 'जाति' को ही मानते हैं। उसी के समान 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छा' का भी 'जाति' में ही संकेतग्रह होना कहता है। 'अनुगत-प्रतीति' (एकाकार प्रतीति) के कारण को 'जाति' (सामान्य) कहते हैं। 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' शब्दों में भी 'जाति' का अनुसन्धान होता है, क्योंकि सभी शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः, शुक्लः' यह अनुगत प्रतीति (एकाकार प्रतीति) होती है। इस एकाकार प्रतीति के होने में कारण 'शुक्लत्व' जाति ही है। जाति (सामान्य) का लक्षण इस प्रकार है—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत (एकाकार) प्रतीति के हेतु को सामान्य कहते हैं। जैसे—अनेक घट, पट आदि व्यक्तियों में 'घटः-घटः' या 'पटः-पटः' इस अनुवृत्तिप्रत्यय (एकाकार प्रतीति) का कारण 'घटत्व' या 'पटत्व' जाति ही है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में रहने वाले 'शुक्ल गुण' में अयं शुक्लः-'अयं शुक्लः'-इस प्रकार होने वाली अनुगत (एकाकार) प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व' जाति ही है। उसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक वस्तुओं के 'पाक' में रहने वाली 'पाक-क्रिया' में 'पाकः-पाकः' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होने का कारण 'पाकत्व' जाति ही है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित 'यदृच्छा शब्द' का प्रतिक्षण परिणाम होते रहने के कारण भिद्यमान अर्थों में भी 'जाति' का अनुसन्धान होता है। अतः 'जाति शब्दों' के समान ही अन्य तीनों का भी जाति में ही संकेतग्रह स्वीकार करना चाहिए अर्थात् चारों प्रकार के शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त 'जाति' ही है। 'जाति' (सामान्य) का एक दूसरा लक्षण भी है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' इसके अनुसार भी 'शुक्लत्व' आदि को 'जाति' या 'सामान्य' कह सकते हैं। क्योंकि 'शुक्ल गुण' उन-उन पदार्थों का अपना-अपना है। 'मीमांसक' अनेक पदार्थों में शुक्लादि गुणों को 'एक रूप नहीं मानते। वे भिन्न-भिन्न पदार्थों में शुक्लादि गुणों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। शुक्लादिगुणों को एक रूप मानना अनुभव के विरुद्ध बतलाते हैं।

यदृच्छा शब्दों में जाति का उपपादन—

जाति के लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' यह अंश भी है। 'यदृच्छा शब्द' तो एक

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं गुडतण्डुला-

---

व्यक्ति का वाचक **रूढ शब्द** (संज्ञा शब्द) होता है। वह 'अनेक व्यक्तियों' का वाचक नही है। इसलिए उसमें **'अनेकसमवेतत्व'** यह अंश न रहने के कारण उसका अर्थ 'जाति' कैसे कहा जाय ? क्योंकि **'जाति'** तो 'अनेक-समवेत' हुआ करती है। और **'यदृच्छा शब्दों'** में स्फोट रूप शब्द भी एक है, और उससे प्रतीत होने वाला अर्थ (वाच्यार्थ) 'व्यक्ति-विशेष' भी एक है। अतः उसे जातिवाचक कैसे कहा जाय ?।

इसका समाधान **मीमांसकों** ने यह दिया है कि **'डित्थ'** आदि संज्ञा शब्द का उच्चारण करने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण 'डित्थादि' संज्ञाशब्दों में प्रतिक्षण वृद्धि अथवा ह्रास रूप परिवर्तन होता रहता है। अतः 'डित्थादि' शब्दों में भेद (अनेकत्व) मानना चाहिए। भले ही वह शब्द, एक 'डित्थ' अथवा 'देवदत्त' आदि व्यक्ति रूप अर्थ का वाचक हो। किन्तु उस 'अर्थ-व्यक्ति' के वाचक 'शब्द-व्यक्ति' में अनेकत्व (भेद) माना जा सकता है। वाचक बने हुए उन अनेक शब्दों (शब्द व्यक्तियों) में अनुगत (एकाकार) प्रतीति कराने वाली **'डित्थत्व'** अथवा **'देवदत्तत्व' जाति** ही है। इसी प्रकार **'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः-ऋते चितिशक्तेः'** केवल (एकमात्र) चेतन (आत्मा) को छोड़कर संसार के समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम (परिवर्तन) होता रहता है, इस **सांख्य-सिद्धान्त** के अनुसार **'यदृच्छा (संज्ञा) शब्दों'** के वाच्यार्थ रूप 'व्यक्तियों' में भी परिवर्तन होने से भेद की कल्पना कर सकते हैं। और उनमें जो **अनुगत प्रतीति** (एकाकार प्रतीति) होती है, उसका कारण **'डित्थत्व, देवदत्तत्व'** आदि **'जाति'** ही है। इसलिए **यदृच्छा शब्दों** का **संकेतग्रह जाति में ही** कहना चाहिए। **तात्पर्य यह है** कि **वैयाकरण** 'जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा' इन चारों में संकेतसंग्रह मानते हैं किन्तु **मीमांसक** उक्त चारों के बजाय 'केवल जाति' में ही उसे (संकेत-सग्रह को) कहते हैं।

ग्रन्थकार **भट्ट मम्मट ने** काव्यप्रकाश की कारिका में **'जातिरेव वा'** लिख-कर **मीमांसकों** का मत बताया है। किन्तु **ग्रन्थकार** को यह मत **स्वीकार नहीं है**। केवल **मीमांसकों** के मत को प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने लिखा है।

उपर्युक्त **अभिप्राय** को ही ग्रन्थकार लिखते हैं—

हिमपय इति। 'हिम' (बर्फ) 'दूध' और 'शङ्ख' आदि पदार्थों के 'शुक्ल गुणों' में जिसके कारण 'शुक्लः, शुक्लः' इस प्रकार अभिन्नताभिधान (एकाकार

दिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्धशुकादयुदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

तद्वान् अपोहो वाशब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

कथन) और प्रत्ययोत्पत्ति (प्रतीति की उत्पत्ति) होती है, वह **'शुक्लत्वादि' सामान्य** (जाति) है। 'गुड़' और 'तण्डुल' आदि के **पाकों में** भी इसी प्रकार **पाकत्व** आदि **सामान्य** (जाति) है। उसी प्रकार बालक, वृद्ध और शुक (तोता) आदि के द्वारा बोले गये 'डित्थादिशब्दों' में और प्रतिक्षण परिवर्तनशील 'डित्थ' आदि 'पदार्थों' में **डित्थत्व आदि जाति** (सामान्य) रहती है। इसलिए **समस्त शब्दों** की अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्ति का **निमित्त** केवल एकमात्र **जाति** ही है।

संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक एवं बौद्धों का मत—

तद्वान् अपोह इति। कुछ लोगों ने **'तद्वान्'** (जातिविशिष्टव्यक्ति) और **'अपोह'** (अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व) को ही शब्द का अर्थ कहा है। **'तद्वान्'** (जातिविशिष्ट व्यक्ति) पक्ष **नैयायिकों** का है और **'अपोह'** (तद्भिन्नभिन्नत्व) पक्ष **बौद्धों** का है। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से और प्रकृत में उसका अनुपयोग रहने से उक्त दोनों मतों का अधिक विस्तार नहीं किया है।

विशेष विवरण—संकेतग्रह के सम्बन्ध में **वैयाकरण, आलंकारिक** तथा **मीमांसकों** के मत का निरूपण अभी तक किया गया। अब **नैयायिक** और **बौद्धों** के मतों को बताया जायेगा, जो पूर्वोक्त तीनों से भिन्न है।

नैयायिक 'केवल जाति' में संकेतग्रह का होना जैसे नहीं मानते, उसी तरह वे **'केवल व्यक्ति'** में भी संकेतग्रह का होना नहीं मानते। न मानने का कारण यह है कि 'केवल व्यक्ति' में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं। तथा केवल जाति में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) मानने पर 'शब्द' से केवल 'जाति' की उपस्थिति होती है, 'व्यक्ति का भान' शब्द से नहीं होता है। यदि यह कहें कि 'जाति' में **शक्ति** मानकर **'आक्षेप'** से 'व्यक्ति' का भान हो जायेगा, किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो पायेगा। **'शाब्दी आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते'** इस नियम के अनुसार **शब्दशक्ति** से प्राप्त हुए **अर्थ** का ही **शाब्द-बोध** में अन्वय होता है। **आक्षेप** से प्राप्त हुए **अर्थ** का **शाब्द-बोध** में अन्वय नहीं होता। अतः **नैयायिकों** का कहना है कि 'केवल जाति' या 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर **'जाति-विशिष्ट व्यक्ति'** में शक्तिग्रह को मानना चाहिये।

नैयायिकों के इस मत को ग्रन्थकार ने 'तद्वान् शब्दार्थः' कहकर बताया है। 'तद्वान्' का अर्थ 'जातिमान्' है। एवञ्च नैयायिकों के मत से जाति-विशिष्ट-व्यक्ति में संकेतग्रह का होना माना जाता है।

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' माना जाता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्तिः' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार अनेक पदार्थों में एकाकार प्रतीति जो होती है, उसका कारण उन पदार्थों पर रहने वाला 'सामान्य' ही है। यह 'सामान्य' नित्य पदार्थ है, और अनेक में समवेत भी है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह सामान्य का लक्षण किया जाता है। अतः 'सामान्यवादी' दार्शनिकों का 'सामान्य' (जाति) 'नित्य' है। किन्तु बौद्धों का सिद्धान्त 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं क्षणिकं' इस प्रकार 'क्षणभङ्गवाद' का है। इस कारण बौद्ध 'सामान्यरूप नित्य पदार्थ' को नहीं मानते। सामान्य-वादियों के यहाँ अनेक पदार्थों में अनुगत प्रतीति कराने में 'सामान्य' जैसे कारण होता है, उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ सामान्य के स्थान पर 'अनुगत प्रतीति' कराने में कारण 'अपोह' होता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' है। 'अनेक घट-व्यक्तियों' में 'घटः, घटः' यह जो 'अनुगत प्रतीति' होती है, उसका कारण अघटव्यावृत्ति अथवा घटभिन्न-भिन्नत्व है। प्रत्येक घट 'अघट' से अर्थात् घटभिन्न जो सम्पूर्ण जगत्, उससे भिन्न है (व्यावृत्त है)। इस कारण 'उनमें' घटः-घटः यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'शब्द' का अर्थ 'अपोह' ही माना गया है। उस 'अपोह' में 'संकेतग्रह' स्वीकार करना चाहिए। इस बौद्ध-सिद्धान्त को मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः' कहकर बताया है।

मम्मटभट्ट का अपना मत—

संकेतग्रह के विषय में ग्रन्थकार ने चार मतों को प्रदर्शित किया है—पहला मत भाष्यकार का, दूसरे मत को 'इत्यन्ये', तीसरे और चौथे मत को 'कैश्चित्' शब्द से कहा है। व्याकरणशास्त्र का अनुगामी साहित्यशास्त्र है, इस बात को ग्रन्थकार ने 'बुधैर्वैयाकरणैः' कहकर सूचित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्यशास्त्र भी वैयाकरणों के अनुसार 'जात्यादि चारों' में संकेतग्रह का होना मानता है। भट्टमम्मट ने अपने एक अन्य 'शब्द-व्यापार-विचार' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि 'तत्र-मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः'—अभिधाशक्ति से प्रतिपादित मुख्य अर्थ, 'जाति' आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए।

अभी तक 'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' ये तीन भेद 'अर्थ' के बताये गये हैं,

(अभिधालक्षणम्)

(सू०११) समुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः। अस्येति शब्दस्य।

को 'मुख्य' कहने का कारण यह है कि 'मुखमिव मुख्यः'—शरीर के समस्त अवयवों में सबसे प्रधान 'मुख' होता है और वही सबसे पहले दृष्टिगोचर होता है। उसी तरह 'वाच्य', 'लक्ष्य', 'व्यङ्ग्य' इन तीनों अर्थों में से प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ 'वाच्यार्थ' ही है, वह 'मुख' के तुल्य होने से उसे मुख्यार्थ कहा जाता है। उस (वाच्यार्थ या मुख्यार्थ) को बताने वाला जो शब्द का व्यापार है उसे अभिधाव्यापार कहते हैं।

ग्रंथकार ने 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' तथा 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' इत्यादि अनेक स्थलों पर 'वाच्य-अर्थ' तथा 'वाचक-शब्द' के लिए 'मुख्यार्थ' तथा 'मुख्य-शब्द' का प्रयोग किया है। अतः यहाँ 'वाच्यार्थ' को ही 'मुख्यार्थ' कहा गया है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कह रहे हैं।

(सू० ११) वह साक्षात् संकेतित अर्थ, 'मुख्यार्थ' कहलाता है और उसका बोधन कराने में 'शब्द' का जो व्यापार होता है, उसे 'अभिधाव्यापार' कहते हैं। इस संकेतितार्थ के बोधजनक व्यापार को 'शक्ति' भी कहते हैं॥ ८॥

स इतीति। सूत्र में प्रयुक्त 'सः' पद से 'साक्षात्संकेतित' अर्थ का ग्रहण किया गया है। और 'अस्य' पद से 'शब्दस्य' यानी 'शब्द' का ग्रहण किया है। अतः 'अस्य' पद से मुख्यार्थ के परामर्श का भ्रम नहीं करना चाहिये।

विशेष विवरण—सूत्रकार को 'स मुख्योऽर्थः' कहने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि किसी को यह भ्रम न रहे कि उक्त त्रिविध अर्थ के अतिरिक्त मुख्यत्वेन ('मुख्य' नाम से) प्रसिद्ध 'मुख्यार्थ' को क्यों नहीं बताया? उस भ्रम को दूर करने के लिए अवधारणगर्भित 'सः' पद का प्रयोग किया है। उससे निश्चित हो जाता है कि 'सः' वह यानी साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यत्वेन प्रसिद्ध है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ नहीं है। 'साक्षात्संकेतित अर्थ' ही प्रथमतः प्रतीयमान होता है, उसका प्रथमतः प्रतीयमान होना ही उसकी 'मुख्यता' है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दव्यापार से जो अर्थ अव्यवधानेन (बिना किसी व्यवधान के) ज्ञात होता है, वही 'मुख्य अर्थ' माना जाता है। जैसे शरीर के हस्तादि समस्त अवयवों से पूर्व 'मुख' दिखाई देता है, वैसे ही 'लक्ष्य, व्यङ्ग्य, तात्पर्यादि' समस्त अर्थों के प्रतीयमान होने से पूर्व इस 'साक्षात्संकेतित अर्थ' को प्रतीति होती है। इस कारण 'मुख्यत्व' [illegible]

(लक्षणालक्षणम्)

(सू० १२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

निरुक्ति के बलपर उसे 'मुख्य' कहा जाता है। 'मुख्यः' मे 'शाखादिभ्यो यः'—(पा. सू. ५।३।१०३) सूत्र से 'य' प्रत्यय किया गया है।

उसी प्रकार 'मुख्यार्थ' को विषय करनेवाले 'शब्द' को भी 'मुख्य' बताया गया है। अत एव आगे चलकर ग्रंथकार ने अपनी वृत्ति में 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' कहते हुए 'शब्द' को भी 'मुख्यशब्द' से कहा है।

किसी व्याख्याकार ने सू० ११ वें की अवतरणिका देते हुए जो कहा है कि 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' इस अग्रिम सूत्र के उपयुक्त होने से 'वाच्य' का नामान्तर 'स मुख्योऽर्थः' सूत्र से किया जा रहा है। किन्तु उस व्याख्याकार का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अग्रिम सूत्र 'मुख्यार्थबाधे' के बजाय 'वाच्यार्थबाधे' भी कहा जा सकता था। इस प्रकार कहने से भी अभीष्ट सूत्रार्थ की उपपत्ति हो जाती है। अतः उसके 'संज्ञान्तर' (नामान्तर) करने में गौरव होगा, इसलिए इस प्रकार कहना अनुचित है।

'स मुख्योऽर्थः' से साक्षात्संकेतित जो अर्थ यानी वाच्यार्थ, उसी को 'मुख्यार्थ' कहकर साक्षात्संकेतितार्थ-विषयक यानी साक्षात्संकेतितार्थ-बोधक जो 'शब्द' उसी को ग्यारहवें सूत्र में 'अस्य' पद से बताया गया है। तब अर्थ यह हुआ कि साक्षात्संकेतितार्थ-बोधजनक व्यापार (वृत्ति) को 'अभिधा' कहते हैं। उस अभिधा का ही पर्यायशब्द 'शक्ति' है। और शक्तिग्राहकसमय को 'संकेत' कहते हैं। उस समय (संकेत) का आकार 'अस्मात् अयमर्थो बोद्धव्यः' बताया जाता है। 'शक्ति' और 'संकेत' दोनों में यही अन्तर है। अत एव 'नाभिधा समयाभावात्' इस चौबीसवें सूत्र में दोनों (अभिधा और समय) का निर्देश किया गया है ॥ ८ ॥

लक्षणानिरूपण—

मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति 'अभिधा' शक्ति से होती है। वही वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) को सबसे पहले बताती है। उसी की सहायता से 'शब्द' अपने 'वाच्य-अर्थ' को बता पाता है। इसीलिए उसे (शब्द को) 'वाचक' कहा गया है।

अब उद्देशक्रम के अनुसार 'वाचकशब्द' निरूपण करने के पश्चात् 'लाक्षणिक' शब्द का निरूपण करना उचित है। किन्तु 'लाक्षणिकशब्द' का निरूपण, लक्षणानिरूपण के अधीन होने से ग्रंथकार 'लक्षणा' का निरूपण पहले कर रहे हैं—

(सू० १२) (१) मुख्यार्थ का बाध (अन्वय की अनुपपत्ति अथवा तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, (२) उसके (मुख्यार्थ के) साथ (लक्ष्यार्थ—अन्य अर्थ

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह (मुख्यरूप से 'अर्थ' में रहने के कारण) शब्द का आरोपित व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है ॥ ९ ॥

विशेष विवरण—निर्दिष्ट किये गये बारहवें सूत्र में 'लक्ष्यते यत् सा' में प्रयुक्त 'यत्' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। एक व्याख्या अनुके सार- 'यदिति' 'यया' इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' अर्थात् 'यत्' पद 'यया' के अर्थ में करणविभक्ति का लोप करके निष्पन्न हुआ तृतीयांत अव्ययपद है। अतः तदनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा'—जिस शब्द-शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कही जाती है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है, 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते'—जो प्रतिपादित होता है, वह 'लक्षणा' है। इन दोनों व्याख्याओं में, विशेषतः दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' में 'णिच्' प्रत्यय लगाकर आख्यातान्त रूप बनाया गया है। 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार है। 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ यह हुआ कि 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'। किन्तु इस दूसरी व्याख्या के क्लिष्ट हो जाने से 'यत्' पद को 'यया' के अर्थ में लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय समझना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' ऐसी भी व्याख्या की है। किन्तु यह व्याख्या अत्यन्त असंगत है। क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है, अपितु शब्द की शक्ति 'लक्षणा' है।

महामीमांसक श्रीकुमारिलभट्टपाद ने अपने तंत्रवार्तिक में 'अभिधेयाविनाभूते अवृत्तिर्लक्षणेष्यते' (तं० वा० १।४।२३) कहा है। किन्तु मूल कारिका के 'प्रतीति' पाठ के आधार पर कतिपय व्याख्याकारों ने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' ऐसी व्याख्या कर डाली है। पर जिस ग्रन्थ की ऐसी व्याख्या की है, उस ग्रन्थकार मम्मट का यह सिद्धान्त नहीं है। अतः लक्षणा के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश की व्याख्या करने चले व्याख्याकारों को मूल ग्रन्थकार के सिद्धान्त को बिना जाने व्याख्या करना उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकार तो 'शब्दव्यापार' को 'लक्षणा' मानते हैं। अतः 'यया' के अर्थ में ही 'यत्' अव्यय का प्रयोग है। किन्तु वहाँ भी 'प्रतीति' का अर्थ ज्ञान नहीं लिया गया है, अपितु 'प्रतीति का करणभूत व्यापार' अर्थ किया गया है। 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'प्रतीयते अर्थः अनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह किया जाता है।

मुख्यार्थबाध के दो रूप—

(१) बारहवें सूत्र में 'लक्षणा' का मुख्य कारण (हेतु) 'मुख्यार्थबाध' बताया है। उसकी भी व्याख्या दो प्रकार से की गई है। अधिकतर व्याख्याकार 'मुख्यार्थबाध' का अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे—'गंगायां घोषः' उदाहरण में 'गंगा' का अर्थ 'जलप्रवाह' है, और 'घोष' का अर्थ 'आभीरपल्ली' यानी ग्वालों की बस्ती है। तब गंगा के जल-प्रवाह पर ग्वालों की बस्ती रह नहीं सकती। अतः अन्वय के अनुपपन्न होने से 'गंगा' पद लक्षणा से 'तट' रूप अर्थ को बताता है।

(२) किन्तु नागेशभट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' में 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज बताया है। उसमें हेतु यह प्रदर्शित किया है कि यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज स्वीकार करेंगे तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहने वाले का तात्पर्य केवल कौवे (काक) से ही दही को बचाने में न होकर कुत्ते, बिल्ली आदि जितने भी दध्युपघातक प्राणी हों, उन सबसे दही की रक्षा करने में है। इस तात्पर्य की पूर्ति 'काक' पद की दध्युपघातक अर्थ में लक्षणा करने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज न मानें तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य-प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' तो नहीं है, क्योंकि सभी पदों का अन्वय उपपन्न हो जाता है। अतः यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज कहें तो यहाँ लक्षणा होगी ही नहीं। इसी कारण नागेशभट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज बताया है। तब अन्वय में किसी बाधा के न रहने पर भी 'काक' पद का 'मुख्यार्थ' मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नहीं हो पाती। इसलिए 'लक्षणा' करना अनिवार्य हो जाता है। अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये—यह नागेशभट्ट का कथन है।

एवं च 'अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा' अर्थात् 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'—यह 'लक्षणा' का लक्षण है। नवम कारिका में निर्दिष्ट लक्षण के साथ पढ़े गये 'आरोपिता' और 'क्रिया' दोनों पद लक्षण-घटक नहीं हैं। वे लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए पढ़े गये हैं। वह व्यापारस्वरूप लक्षणा, मुख्यार्थ से व्यवहित लक्ष्यार्थ को विषय करने के कारण 'शब्द' में कल्पित है, यानी आरोपित है। साक्षात्संबन्ध से तो वह 'मुख्यार्थ'-निष्ठ है, और परम्परासम्बन्ध से 'शब्द'-निष्ठ है। अभिप्राय यह है कि शब्द अपने 'मुख्यार्थ' के द्वारा 'अमुख्यार्थ' का प्रतिपादन करता है। 'वह प्रतिपादन' शब्द के आरोपित (काल्पनिक) व्यापार से सम्बन्धित है। इस व्यापार को शब्द का आरोपित व्यापार इस-

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोषः इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

लिए कहना पड़ता है कि वस्तुतः वह 'मुख्यार्थ' का व्यापार है। लेकिन 'मुख्यार्थ' अपने आपमें अनुपपन्न (अविवक्षित) होने से अपने से सम्बन्धित 'अमुख्य अर्थ' (लक्ष्य अर्थ) का बोधन करता है। इस प्रकार शब्द के अमुख्यार्थबोधक इस व्यापार को अपने और शब्द के मध्य में 'मुख्यार्थ' का व्यवधान सहना पड़ता है। 'अभिधा व्यापार' तो शब्द का अव्यवहित (साक्षात्-निरन्तरार्थनिष्ठ) अर्थविषयक व्यापार है, और 'लक्षणाव्यापार' व्यवहित (परम्परया-सान्तरार्थनिष्ठ) अर्थ विषयक व्यापार है। 'सान्तरार्थनिष्ठ' यह व्यापार का विशेषण है। 'अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्तते इति सान्तरः' (मुख्यार्थबाधाद्युपस्थित्या) 'व्यवहितो योऽर्थः, लक्ष्यरूपः, तन्निष्ठः तद्विषयकः तद्बोधक इति यावत्।'

इस प्रकार लक्षणा का लक्षण और स्वरूप बताकर ग्रन्थकार उसे उदाहरण के द्वारा समझा रहे हैं।

लक्षणा के दो उदाहरण—

कर्मणीति। 'कर्मणि कुशलः' (चित्रकर्म आदि किसी विशेष) काम में कुशल है—इस स्थल में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों (दर्भों) के ग्रहण करने का कोई सम्बन्ध न रहने से 'मुख्यार्थ का बाध' होता है। और 'गंगायां घोषः' इस स्थल में 'गंगा' (पद के भगीरथ-रथ-खातावच्छिन्न-जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ) में 'घोष' (ग्वालों की बस्ती) आदि का आधारत्व (अधिकरणत्व) सम्भव न हो पाने से मुख्यार्थ का बाध होता है। तब (पहले उदाहरण में) विवेचकत्वादि और (दूसरे उदाहरण में) सामीप्य सम्बन्ध रहने पर, (पहले उदाहरण में 'कुशल' पद के 'दक्ष=चतुर' अर्थ में रूढ=प्रसिद्ध होने के कारण) रूढ़िसे=प्रसिद्धि से, और (दूसरे उदाहरण में) 'गंगातटे घोषः' इत्यादि (मुख्य शब्द) के प्रयोग से जिन (शैत्य-पावनत्वादि धर्मों) की उस रूप में प्रतीति नहीं है, उन शैत्य पावनत्वादि धर्मों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन के लिए मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है; वह शब्द का व्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' कहा जाता है।

विशेष विवरण—'गंगायां घोषः' यह उदाहरण 'प्रयोजनवती लक्षणा' का है। जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द को तथा 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र से लिया है, उसी तरह 'गंगायां घोषः' उदाहरण को भी व्याकरणशास्त्र से ही लिया गया है। महाभाष्यकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४७) सूत्र के महाभाष्य में 'गंगायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो उदाहरण लक्षणा के दिये हैं। उसी उदाहरण को यहाँ दिखाया गया है, इससे भी साहित्यशास्त्र के व्याकरणशास्त्रानुगामी होने का प्रमाण उपलब्ध हो जाता है।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद—

(१) श्रीमम्मटभट्ट ने 'उपादान-लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' नाम से 'लक्षणा' के दो भेद किये हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है, और स्वयं भी बना रहता है, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं। क्योंकि उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान (ग्रहण) रहता है। अतः 'उपादानलक्षणा' यह सार्थक संज्ञा है।

जैसे उदाहरण के रूप में 'कुंताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' दिये जा सकते हैं। 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द का अर्थ क्रमशः भाला और लाठी, अचेतन (जड़) पदार्थ हैं। इन जड़ पदार्थों का प्रवेशक्रिया में अन्वय नहीं बन पा रहा है। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। तब 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द अपने अन्वय सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद का या 'पदार्थ' का आक्षेप कर लेते हैं। और 'कुन्त' तथा 'यष्टि' शब्द 'कुन्तधारी' और 'यष्टिधारी' पुरुष के बोधक हो जाते हैं, जिससे उन शब्दों की प्रवेशक्रियान्वयानुपपत्ति दूर हो जाती है, तब 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष प्रवेश कर रहे हैं'—यह सम्पन्न हो जाता है। यहाँ कुन्तधारी पुरुषों की बहुलता का सूचन करना ही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण कहा जाता है।

(२) इसके ठीक विपरीत जहाँ वाक्यगत कोई शब्द, अपने साथ प्रयुक्त हुए दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर दूसरे अमुख्यार्थ का बोधक होता है, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में प्रयुक्त किये गये 'घोष' पद का आधेयत्वरूप से अन्वय कराने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का त्याग कर 'सामीप्य सम्बन्ध' से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है, जिससे 'शीतलत्व-पावनत्व' रूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। इसलिए यह प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा का उदाहरण है।

(उपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणा च)

(सू० १३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यादौ कुन्तादिभिः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

शुद्धा लक्षणा के इन्हीं दो भेदों को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(सू० १३) वाक्य में प्रयुक्त हुए किसी शब्द के द्वारा अपने-अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरे की अन्वयसिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग (समर्पण) करना 'लक्षण' कहलाता है। इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा के ही ये दो प्रकार' बताये गये हैं। (ये भेद गौणी के नहीं हैं) ॥१०॥

उपादान लक्षणा के दो उदाहरण —

कुन्ता इति। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' भाले प्रवेश कर रहे हैं, और 'यष्टयः प्रविशन्ति' लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं—ये दो उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं। इन वाक्यों में 'कुन्त' आदि शब्दों के द्वारा अपने अचेतन रूप से प्रवेश क्रिया में अन्वयसिध्यर्थ 'स्व-संयुक्त पुरुषों' का (कुन्तधारी पुरुषों का) आक्षेप कराया जाता है। एवं च 'स्वार्थ' को बिना त्यागे 'अन्य अर्थ' का ग्रहण करने से यह उपादान लक्षणा कहलाती है।

मुकुलभट्ट की उपादान लक्षणा के दो उदाहरण—

विशेष विवरण—उपादान लक्षणा के उदाहरण बताने के बाद लक्षणलक्षणा का उदाहरण बताना चाहिये, परन्तु उसे न बताकर मम्मटभट्ट ने 'मुकुलभट्ट' तथा 'मण्डन मिश्रादि' मीमांसकों के द्वारा प्रदर्शित किये गये उपादान लक्षणा के दो उदाहरणों का खण्डन किया है।

मुकुलभट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रंथ में 'अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना' इन तीनों शक्तियों के स्थान पर केवल अभिधाशक्ति को ही माना है। 'जात्यादि चार प्रकार के अर्थों' की बोधक 'चार प्रकार की अभिधाशक्ति' तथा 'लक्षणा' के छह भेदों का भी 'अभिधा में ही अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधाशक्ति उन्होंने बताई है। व्यञ्जना के सब भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के छह भेदों में ही उन्होंने कर लिया है। और अपना सिद्धान्त घोषित कर दिया है कि दस प्रकार की अभिधाशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्'

अपने इस ग्रन्थ में 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण उन्होंने उपादान लक्षणा के बताये हैं, जैसे—आलंकारिक आचार्य 'वैयाकरणों' के अनुयायी हैं, इसीलिए वे अन्य विषयों के साथ लक्षणा के उदाहरणों को भी 'व्याकरण शास्त्र' से लेते हैं। 'गंगायां घोषः, कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि सब उदाहरणों को काव्यप्रकाशकार ने 'महाभाष्य' से ही लिया है। उसी तरह मुकुलभट्ट 'मीमांसकों' के अनुयायी हैं, इन्होंने भी 'मीमांसा-शास्त्र' से उदाहरणों का संग्रह किया है। 'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इन दोनों उदाहरणों का संग्रह 'मुकुलभट्ट' ने मीमांसाग्रन्थों से ही किया है।

मुकुलभट्ट के द्वारा उपादानलक्षणा का निरूपण—

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक विधिवाक्य है। इसमें प्रयुक्त 'गो' शब्द का अर्थ क्या है? इस विचार के समय समस्या यह उपस्थित हुई कि 'गो' शब्द का मुख्यार्थ तो 'गोत्व' जाति है, क्योंकि मीमांसकों का सिद्धांत 'जातिवाद' का है। तब 'जाति' में अनुबन्धन=आलंभन क्रिया कैसे संभव हो सकेगी? अतः 'मुख्यार्थ का बाध' हो जाता है, और 'गो' शब्द 'अनुबन्धन'=आलम्भन क्रिया के साथ अपने मुख्यार्थ (गोत्वजाति) की अन्वयसिद्धि के लिए आक्षेप (लक्षणा) से 'गोव्यक्ति' का बोध करा देता है। अतः यहां पद में 'उपादानलक्षणा' हुई है।

मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यों' को 'प्राशस्त्य' का लक्षक मानकर वाक्य में भी लक्षणा मानते हैं। इसलिए 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु दिन में नहीं खाता है—इस लौकिक वाक्य-प्रयोग में वाक्य-लक्षणा का उदाहरण मीमांसकों ने दिया है। इस उदाहरण में दिन में न खाने वाला देवदत्त मोटा हो यह बात साधारणतः संभव नहीं है। अतः 'मुख्यार्थ' का बाध हो जाता है, तब यह वाक्य अपने 'अन्वय' की सिद्धि के लिए 'रात्रिभोजन का बोध' आक्षेप से (लक्षणा से) करा देता है। अतः यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण है।

मुकुलभट्ट ने 'उपादान-लक्षणा का लक्षण' और 'उसका समन्वय' करते हुए लिखा है—

'स्वसिध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।
उपादानं लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम्॥

यत्र स्वसिध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते ।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम् । व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियता-

---

'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः ।

यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति ।

अत्र 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति। सर्वथा स्वसिध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते ।

इस प्रकार मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के जो दो उदाहरण दिये हैं उनका क्रम से निरसन करने के लिए प्रथमतः मीमांसकमत का अनुवाद कर देते हैं ।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का अनुवाद—

गौरिति । 'गौरनुबन्ध्यः' इस वैदिक वाक्य के द्वारा बताया गया 'अनुबन्धन' मेरा ('गो' शब्द के मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति का) कैसे सम्भव हो सकेगा ? उसके उपपादनार्थ 'गो' शब्द (पद) अपने मुख्यार्थरूप गोत्व 'जाति' से अमुख्यार्थभूत गो 'व्यक्ति' का आक्षेप करता है । क्योंकि 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिविशेषणे' 'गोत्व' रूपी विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई 'अभिधाशक्ति' किसी भी प्रकार से 'गो' व्यक्तिरूपी विशेष्य का बोध नहीं करा सकती । अतः इस विशेष्यभूत 'गो' व्यक्ति का बोध 'उपादान-लक्षणा' से ही हो सकता है ।

इस प्रकार मुकुलभट्ट के मन्तव्य का अनुवाद करके अब ग्रन्थकार उसका खण्डन कर रहे हैं—'इत्युपादानलक्षणे'ति ।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का खण्डन—

इत्युपादानलक्षणा त्विति । मुकुलभट्ट को 'गौरनुबन्ध्यः' यह वाक्य 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये । क्योंकि यहाँ 'लक्षणा' के प्रयोजक दो मुख्य हेतुओं (रूढि तथा प्रयोजन) में से कोई भी नहीं है । न विशेष 'प्रयोजन ही है और न रूढि' ही है । किन्तु जाति के बिना कभी भी व्यक्ति रह नहीं

मित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डोमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्ते-रर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

सकता, अर्थात् 'अविनाभाव' के कारण 'जाति' से 'व्यक्ति' का आक्षेप (अनुमान) कर लिया जाता है। अतः यहाँ 'लक्षणा' है ही नहीं। तब लक्षणा का उदाहरण इसे कैसे कह सकते हैं ?

जैसे कोई कहे 'क्रियताम्' करो, तब समझना होगा कि कोई भी 'क्रिया' कर्ता के बिना नहीं होती है, इसलिए ऐसी जगह 'कृतिः (यत्नः) साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमान से 'कर्ता' (त्वया) को उपलब्धि कर ली जाती है। तथा 'कुरु' करो—यहाँ पर 'कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमान से ही 'पाकम्' आदि 'कर्म' का लाभ हो जाता है। तथा 'प्रविश' प्रवेश करो, और 'पिण्डीम्' गुड़ की भेली, इन दो शब्दों का प्रयोग करने पर 'अविनाभाव' से क्रमशः प्रविश=प्रवेश करो 'घर में' और पिण्डीं=गुड़ की भेली को 'खाओ' इत्यादि की प्रतीति होती है। इनमें से किसी भी स्थल में लक्षणा नहीं की जाती। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी लक्षणा नहीं है। इसलिए 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में 'गौरनुबन्ध्यः' को नहीं रखना चाहिये।

विशेष विवरण—'क्रियताम्' 'कुरु' 'प्रविश' 'पिण्डीम्' ये सब अपूर्ण वाक्यों के प्रयोग हैं। इनकी पूर्ति करने के लिए अपेक्षित 'अन्य अंशों' को 'अध्याहार' या 'आक्षेप' से लिया जाता है। 'अश्रुतपदानामनुसन्धानमध्याहारः' अश्रुत पदों के अनुसन्धान को अध्याहार कहते हैं। अतः ये दोनों 'शब्दाध्याहार' के उदाहरण हैं। मम्मटभट्ट ने इन उदाहरणों को इसलिए यहाँ पर प्रदर्शित किया है कि जैसे 'कर्त्ता' या 'कर्म' के बिना 'क्रिया' का अन्वय सम्भव नहीं है, किन्तु 'अविनाभाव' के द्वारा उन 'शब्दों' का या 'अर्थों' का अध्याहार या आक्षेप कर लिया जाता है, उसी तरह 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणों में भी 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' नहीं रह सकती, इसलिए 'अविनाभाव' के द्वारा 'जाति' से 'व्यक्ति' का 'अध्याहार' या 'आक्षेप' किया जाता है। 'व्यक्ति' का बोध 'लक्षणा' से नहीं किया जायेगा। अतः 'उपादानलक्षणा' के उदाहरण में इसे प्रदर्शित करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—

पीन इति। मुकुलभट्ट ने उसी प्रकार 'उपादानलक्षणा' का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' दिया है। प्रथम दिये गये 'उदाहरण' से इस उदाहरण में अन्तर यह है कि यह 'पदलक्षणा' के बजाय 'वाक्यलक्षणा' का

उदाहरण है। मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यो' की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर 'वाक्य' में भी लक्षणा मानते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' के 'गोपद' में लक्षणा थी किन्तु यहाँ 'सम्पूर्ण वाक्य' में लक्षणा है। यह दिखाने के लिए ही यह दूसरा उदाहरण दिया गया है।

इस उदाहरण में 'लक्षणा' का खण्डन करते हुए मम्मटभट्ट ने 'रात्रिभोजन' को 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति' का विषय बताया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'रात्रिभोजन' का 'बोध' लक्षणा से न होकर 'अर्थापत्ति' प्रमाण से होता है। इसलिए यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं है।

'अर्थापत्ति' लक्षणारूप नहीं है--

विशेष विवरण—मीमांसक विद्वान् 'प्रत्यक्ष, अनुमान' आदि प्रमाणों के समान 'अर्थापत्ति' को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उन्होंने 'अर्थापत्ति' का लक्षण 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः' किया है। किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ पर 'देवदत्त मोटा है'—यह 'अनुपपद्यमान अर्थ' है, और 'रात्रि भोजन' उसका 'उपपादक अर्थ' है। क्योंकि देवदत्त यदि 'दिन' में न खाय और 'रात' में भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता। दिन में न खाने वाला व्यक्ति 'रात्रि भोजन' के बिना मोटा (पीन) हो ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ पर अनुपपद्यमान अर्थ (दिवा अभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व) को देखकर उसके उपपादक अर्थ 'रात्रि भोजन' की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कर ली जाती है।

'अर्थापत्ति' की द्विविधता--

यह 'अर्थापत्ति' दो प्रकार की होती है—एक 'दृष्टार्थापत्ति' और दूसरी 'श्रुतार्थापत्ति'। जहाँ 'अनुपपद्यमान अर्थ' को स्वयं अपने नेत्रों से देखकर उसके 'उपपादक अर्थ' की कल्पना की जाती है, उसे 'दृष्टार्थापत्ति' कहते हैं और जहाँ किसी के मुख से 'अनुपपद्यमान अर्थ' को सुनकर उसके 'उपपादक' अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह उदाहरण दोनों 'अर्थापत्तियों' का हो सकता है।

मम्मटभट्ट ने 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग न कर 'अर्थार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग 'अर्थाध्याहार' की दृष्टि से किया गया है। 'श्रुतार्थापत्ति' पक्ष में रात्रिभोजन का ज्ञान 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द के अध्याहार से होता है;

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

ओर 'अर्थार्थापत्ति' पक्ष में 'शब्द' का 'अध्याहार' न करके साक्षात् 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का आक्षेप से ज्ञान होता है। इस प्रकार भट्ट और गुरु दोनों मीमांसकों के सिद्धान्त की दृष्टि से ही मम्मटभट्ट ने 'श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा' इस प्रकार 'श्रुतार्थापत्ति' तथा 'अर्थार्थापत्ति' शब्दों का प्रयोग किया है।

'देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु वह दिन में नहीं खाता है' यहाँ पर 'रात्रिभोजन' की उपस्थिति लक्षणा से नहीं हो रही है, क्योंकि उसकी उपस्थिति तो श्रुतार्थापत्ति या अर्थार्थापत्ति से ही हो जाती है।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण--

मुकुलभट्ट के द्वारा उपस्थित किये गये उपादानलक्षणा के दोनों उदाहरणों का खण्डन हो चुका। ग्रन्थकार ने अपने मत के अनुसार उपादानलक्षणा के 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण बता दिये। अब क्रमप्राप्त 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दे रहे हैं। मुकुलभट्ट ने भी लक्षण-लक्षणा का यही उदाहरण अपने ग्रन्थ में दिया है।

गंगायामिति। 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में प्रयुक्त 'घोष' के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जलप्रवाह' रूप स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग कर देता है। इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में 'लक्षणेन स्वार्थसमर्पणेन उपलक्षिता' लक्षणरूप स्वार्थसमर्पण से उपलक्षित होने से यह 'लक्षणा' 'लक्षण-लक्षणा' कहलाती है।

'गङ्गायां घोषः' के उदाहरण पर विचारात्मक विश्लेषण—

विशेष विवरण—इस 'लक्षण-लक्षणा' को ही वेदान्ती लोग 'जहत्स्वार्था लक्षणा' कहते हैं। उक्त दोनों ही नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लक्षणा में 'लक्षक पद' दूसरे पदों के अन्वय सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का त्याग कर देता है। इस 'जहत्स्वार्था' या 'लक्षणलक्षणा' के अनेक उदाहरणों में 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है।

मुकुलभट्टने भी इसी उदाहरण को दिखाया है। और उसमें 'लक्षणलक्षणा' के लक्षण का समन्वय कर दिखाया है। वे कहते हैं कि 'गंगा' शब्द से जो 'तट' अर्थ की उपस्थिति होती है, वह केवल 'तटत्वेन' तटरूप से होती है। गंगा से सम्बद्ध तट के रूप में नहीं। गंगा शब्द के प्रयोग से केवल तटत्व

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

जाती है कि यमुना नदी का तट उपस्थित नहीं होता है । मुकुलभट्ट का यह सिद्धांत 'ताटस्थ्य' सिद्धांत कहलाता है । काव्यप्रकाशकार इस सिद्धांत का खण्डन आगे करेंगे ।

न्यायशास्त्र में 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण—

परम्परा सम्बन्ध से की जाने वाली 'लक्षणा' का 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। उसका उदाहरण 'द्विरेफः' दिया गया है । 'द्विरेफ' शब्द का वाच्यार्थ तो दोरेफ से युक्त 'भ्रमर' शब्द होता है । उससे पुनः लक्षणा द्वारा 'भौंरा' अर्थ ज्ञात होता है । अतः परम्परया 'द्विरेफ' शब्द 'भ्रमर' अर्थ को लक्षित करता है । इसलिए यह 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है ।

लक्षण-लक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण—

ग्रन्थकार ने 'गंगात्वेन' अर्थात् गंगा के साथ अभेद संबंध से ही 'तट' की उपस्थिति बताई है । तब 'गंगा' शब्द ने अपने वाच्यार्थ को सर्वथा त्याग दिया, यह कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'गंगा' का ही वह तट है, यमुना का नहीं । इस प्रतीति में गंगारूप 'लक्षक' पद की तटरूप 'लक्ष्यार्थ' के साथ सम्बन्ध की प्रतीति तो हो ही रही है । ऐसी परिस्थिति में इसे जहत्स्वार्था (लक्षण-लक्षणा) का उदाहरण कैसे कहा गया है ?

अतः स्पष्ट बोधार्थ चतुर्थ उल्लास के सू० २९ में लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद के उदाहरण 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' को 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' का स्पष्ट उदाहरण कह सकते हैं ।

यहाँ पर 'शब्द' अपने 'वाच्यार्थ' (मुख्यार्थ) को सर्वथा त्याग कर केवल 'लक्ष्यार्थ' को ही बता रहा है । यहाँ पर 'उपकृतम्' का मुख्यार्थ बाधित हो रहा है, इसलिए 'अपकृतम्' अर्थ को लक्षण-लक्षणा (जहत्स्वार्था लक्षणा) से वह बता रहा है । उसीप्रकार 'सुजनता' 'सखे' 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्यागकर अपने से विपरीत 'दुर्जनता' 'शत्रो' 'दुःखित मास्स्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बता रहे हैं । उससे 'अपकारातिशय' को व्यञ्जित किया गया है ।

उभयरूपेति । यह दोनों प्रकार की लक्षणा 'उपचार' से मिश्रित न रहने के कारण 'शुद्धा' कहलाती है ।

विशेष विवरण--दोनों लक्षणाओं में 'उपचार' का (सादृश्य सम्बन्ध से दो भिन्न वस्तुओं में अभेद ज्ञान के अभिप्राय का) मिश्रण नहीं रहता है । 'उपादान' और

'लक्षणलक्षणा' दोनों प्रकार की शुद्धा लक्षणाओं के सम्बन्ध में यह जो सिद्धान्त किया गया है कि **वाच्यार्थ, 'लक्ष्यार्थ'** से **सर्वथा तटस्थ** (उदासीन) रहता है क्योंकि—'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति होने में 'वाच्यार्थ' की प्रतीति का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि इस 'शुद्धा-लक्षणा' के द्विविध प्रकारों में भी 'वाच्यार्थ' से 'लक्ष्यार्थ' की अभिन्नता (उपरक्तता) की प्रतीति होती है। तभी उसका प्रयोग करने वाले के अभीष्ट प्रयोग का प्रकाशन सम्भव हो पाता है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में 'लक्षण-लक्षणा' की गई है। यहाँ पर 'गङ्गा' शब्द से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का बोधन किया जाता है। अतः यह समझ में आता है कि जबतक 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध न माना जाय तब तक 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन, जो वक्ता को अभीष्ट हैं, उसकी कभी भी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि 'गङ्गा' शब्द के वाच्यार्थ (प्रवाह) और लक्ष्यार्थ (तट) दोनों में जो **अभेद प्रतीति** होती है, उसी के बल पर 'प्रयोजन' की प्रतीति हो पाती है। अर्थात् **'वाच्यार्थ रूप प्रवाह' में रहने वाली पवित्रता और शीतलता, लक्ष्यार्थ 'तट' से भी सम्बद्ध प्रतीत हो जाती है।** यदि यहाँ पर 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो 'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणा के बदले 'गङ्गातटे घोषः' इस वाचक शब्द का ही प्रयोग कर लिया जाता, किन्तु 'गङ्गायां घोषः' कहने पर जिस प्रयोजन की प्रतीति होती है वह 'गङ्गातटे घोषः' कहने पर नहीं होती। लाक्षणिक प्रयोग में 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन-विशेष की 'अभिव्यक्ति' प्रयोक्ता को अपेक्षित है। वह (अपेक्षा) वाचक प्रयोग में पूर्ण नहीं हो पाती। निष्कर्ष यह है कि—**'शुद्धा'** और **'गौणी'** दोनों लक्षणाओं में 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ' के **अभेद के कारण** परस्पर समानता है। किन्तु 'शुद्धा' में **उपचार का 'अमिश्रण'** और 'गौणी' में **उपचार का 'मिश्रण'** रहता है। इसी से 'शुद्धा' 'गौणी' को एक दूसरे से भिन्न माना जाता है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का मत—

इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा' के **उपादान** तथा **लक्षण** दो नाम से दो प्रकार बताये गये। दोनों प्रकार की 'शुद्धा-लक्षणा' से भिन्न 'गौणी-लक्षणा' भी हुआ करती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'शुद्धा' तथा 'गौणी' लक्षणाओं का परस्पर **'भेदकधर्म'** क्या होता है ? इस विषय में **मुकुलभट्ट** तथा **मम्मटभट्ट** का मतभेद है। **मम्मटभट्ट** 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेदक धर्म 'उपचार' कहते हैं। अर्थात् **मम्मटभट्ट** के अनुसार 'उपचार' से रहित लक्षणा 'शुद्धा' है और 'उपचार' से युक्त लक्षणा 'गौणी' है। 'उपचार' का लक्षण यह है—**'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः**

पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्'—अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना ही **'उपचार'** है। जैसे किसी बालक में वीरता, क्रूरता आदि के अत्यन्त सादृश्य के कारण 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोग, उपचार-मूलक ही किये जाते हैं। इसीलिए उन्हें 'गौण-प्रयोग' कहते हैं। अर्थात् 'औपचारिक प्रयोग' (गौण-प्रयोग) यहाँ पर किया गया है। ऐसे **'औपचारिक प्रयोगों' में गौणीलक्षणा** की जाती है। एवञ्च **उपचार** (सादृश्य सम्बन्ध) **के अतिरिक्त 'सामीप्य' आदि किसी अन्य सम्बन्ध से जो लक्षणा होती है उसे 'शुद्धा लक्षणा'** कहते हैं। **अभिप्राय** यह है कि **मम्मटभट्ट** ने **'उपचार' के 'अमिश्रण को 'शुद्धा'** और **'उपचार' के मिश्रण को 'गौणी'** कहा है। ये **मिश्रण** और **अमिश्रण** ही उन 'दो लक्षणाओं' के **भेदक धर्म हैं।**

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का मत—

किन्तु मुकुलभट्ट ने **'उपचार'** को **शुद्धालक्षणा** और **गौणीलक्षणा** का भेदक धर्म नहीं माना है। वे **शुद्धा** और **गौणी** दोनों में **'उपचार के मिश्रण'** को ही मानते हैं। अतएव **मुकुलभट्ट ने** 'उपचारमिश्रा लक्षणा' के **शुद्धोपचार** और **गौणोपचार** दो भेद किये हैं। तदनन्तर उनके **सारोपा** और **साध्यवसाना** दो भेद किये। इस रीति से 'उपचारमिश्र-लक्षणा' के **चार भेद** तथा 'शुद्धालक्षणा' के **'उपादानलक्षणा'** और **'लक्षण लक्षणा' दो भेद** किये हैं—इस प्रकार कुल मिलाकर उन्होंने **लक्षणा के छह भेद किये हैं।** उनके मत में **'उपचार'** का अर्थ है—**'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग'**। जहाँ **'सादृश्य' के कारण** अन्य के लिए **अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग** हो वहाँ **'गौणोपचार'** कहा जाता है। और जहाँ **'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग' सादृश्य के कारण न होकर** किसी अन्य **कार्य-कारण, जन्य-जनक आदि सम्बन्ध के कारण** होता है, उसे **'शुद्धोपचार'** कहते हैं। **'आयुर्घृतम्'** यह **शुद्धोपचार** का उदाहरण है। यहाँ पर 'आयु के' कारणभूत 'घृत' के लिए 'आयु' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा **'गौर्वाहीकः'** इस उदाहरण में 'वाहीक' के लिए 'गौ' पद का प्रयोग गुणों के सादृश्य को देखकर किया गया है। इसलिए यह **गौणोपचार** का उदाहरण है। वाहीक देश (पंजाब देश) में रहने वाले मनुष्य में 'गौ' के सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणों (धर्मों) का योग (सम्बन्ध) है। **तात्पर्य** यह है कि उपचार का भी शुद्ध और गौण रूप हैं। इस कारण 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेदक धर्म 'उपचार' नहीं हो सकता। **मुकुलभट्ट** 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेद दिखाने के लिए **'ताटस्थ्य'** को उनका **भेदक धर्म** मानते हैं। वे **'उपचार'** को उनका **भेदकधर्म नहीं** मानते। **'ताटस्थ्य'** का अर्थ है—**'लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ का भेद'**। **मुकुलभट्ट** के मत में 'सादृश्य' की अत्यधिकता से 'लक्ष्य और लक्षक' का

SANSKRIT LIBRARY
BOOK NO: A28
UNIVERSITY

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यं तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोषः इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ।

(सारोपा लक्षणा)

(सू०१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

अभेद, **गौणीलक्षणा** में प्रतीत होता है। जैसे गौर्वाहीकः' में 'गौ' और 'वाहीक पुरुष' दोनों अर्थों का **अभेद** प्रतीत होता है। और उसी कारण उन दोनों पदों में **सामानाधिकरण्य** का प्रयोग किया गया है। किन्तु **'शुद्धालक्षणा'** (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में लक्ष्य और लक्षक का अभेद नहीं है। वहाँ **भेद** (ताटस्थ्य) रहता है। 'उपादान-लक्षणा' के **'कुन्ताः प्रविशन्ति'** उदाहरण में और 'लक्षण-लक्षणा' के **'गङ्गायां घोषः'** उदाहरण में 'लक्ष्य और लक्षक' अर्थों का **अभेद नहीं है, बल्कि भेद** (ताटस्थ्य) है। अर्थात् 'शुद्धालक्षणा' में **ताटस्थ्य** (लक्ष्य और लक्षक अर्थों का भेद) प्रतीत होता है। और **'गौणीलक्षणा' में सादृश्य** (लक्ष्य तथा लक्षक अर्थों का अभेद) प्रतीत होता है। यही **शुद्धा और गौणी में भेद** है। यह **मुकुल भट्ट का सिद्धान्त है।**

मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन—

मम्मटभट्ट इस 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' के समर्थक नहीं हैं। वे 'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च' ग्रन्थ से 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं—

अनयोरिति। 'शुद्धालक्षणा' के दोनों भेदों (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में 'लक्ष्य' अर्थ और 'लक्षक' अर्थ का यानी गङ्गा के **'जलप्रवाहरूप'** लक्षक अर्थ का, तथा **'तटरूप'** लक्ष्य अर्थ का **भेदप्रतीतिरूप 'ताटस्थ्य' नहीं** कह सकते, क्योंकि लक्ष्यार्थरूप **'तट'** आदि अर्थों को **'गङ्गा'** आदि शब्दों से बताने पर ही **'तत्त्वप्रतिपत्ति'** अर्थात् गंगात्व को (लक्ष्य तथा लक्षक यानी तट तथा जलप्रवाह के) **अभेद** की प्रतीति होने **पर ही शैत्य-पावनत्वादि धर्मों के 'अतिशयरूप अभिलषित प्रयोजनों'** की **प्रतीति** हो सकती है। यदि **'तट'** में **'तत्त्व'** अर्थात् गङ्गात्व (गंगा शब्द के मुख्यार्थ जलप्रवाह) के साथ **अभेद** की प्रतीति न होकर केवल **'गंगा का सम्बन्धमात्र'** प्रतीत होता हो तो **'गंगायां घोषः'** इस लाक्षणिक शब्द के स्थान पर **'गङ्गातटे घोषः'** गंगा के तट पर घोष है—इस मुख्य शब्द के द्वारा बताने में और लक्षणा के द्वारा बताने में क्या भेद रहेगा ?

सारोपा लक्षणा

(सू० १४) जिस पदार्थ का आरोप किया जाता है, वह **विषयी** और जिस

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा ।

(साध्यवसानिका लक्षणा)

(सू०१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ।

(सारोपासाध्यवसानिकयोः प्रत्येकं द्वैविध्यम्)

(सू०१६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

(तयोः सादृश्यमूलौ भेदौ)

पदार्थ पर आरोप किया जाता है, वह विषय, इन दोनों का (सामानाधिकरण्य से) जिसमें निर्देश किया रहता है, उसे **'सारोपा'** लक्षणा कहते हैं ।

आरोप्येति । **'विषयी'** और **'विषय'** (आश्रय) की पृथक्ता जहाँ स्पष्ट रहती है, यानी जहाँ पर दोनों को समान विभक्तिवाले पदों से दिखाया जाता है, उसे **'सारोपा'** लक्षणा कहते हैं ।

साध्यवसानिका-लक्षणा

(सू० १५) जब दूसरे को (आरोप के 'विषय' आश्रय को) यानी **'उपमेय'** को **'आरोप्यमाण'** (आरोपित किया जाने वाला **'विषयी'**) अर्थात् उपमान के द्वारा अपने में समाविष्ट यानी निगल लिया जाता है (अपने भीतर अन्तर्भूत कर लिया जाता है) तब उसे **साध्यवसाना-लक्षणा** कहते हैं ॥ ११ ॥

विषयिणेति । 'उपमान' (आरोप्यमाण विषयी) के द्वारा जब **'उपमेय'** (आरोप के विषय) को निगीर्ण कर लिया जाता है, तब **साध्यवसाना-लक्षणा** होती है । अर्थात् विषयिवाचक पद से ही विषय का प्रतिपादन (अध्यवसान) किये जाने पर साध्यवसाना-लक्षणा होती है ।

सारोपा और साध्यवसाना-दोनों के दो भेद—

(सू० १६) **सारोपा** और **साध्यवसाना** में से प्रत्येक के (मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के) दोनों भेद जब सादृश्य पर आधारित हों तब उन्हें **'गौण'**, और जब अन्य किसी सम्बन्ध पर आधारित हों तब उन्हें **'शुद्ध'** समझना चाहिये ।

गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना के सादृश्यमूलक दो भेदों के उदाहरण—

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाऽभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित **'सारोपा'** और **'साध्यवसाना'** (साध्यवसानिका) लक्षणा के ये दो भेद, क्रमशः **'गौर्वाहीकः'** वाहीक देश का निवासी पुरुष 'गौ' (बैल) है, और **'गौरयम्'** यह 'गौ' (बैल) है, इन दो उदाहरणों से स्पष्ट किये गये हैं। अर्थात् **'गौर्वाहीकः'** यह उदाहरण **'सारोपा लक्षणा'** का है, और **'गौरयम्'** यह उदाहरण **'साध्यवसाना लक्षणा'** का है।

गौणी साध्यवसाना-विषयक तीन मत—

'गौरयम्' आदि **गौणी साध्यवसाना** के उदाहरणों में लक्षणावृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है ? इस विषय में **काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट** ने **'तीन पक्षों' का** उल्लेख किया है।

(१) **अत्र हीति**। **कुछ विचारकों का कहना** है कि यहाँ पर अर्थात् **'गौरयम्'** आदि **'गौणी लक्षणा'** के उदाहरणों में अपने अर्थ के **सहचारी 'जाड्य, मान्द्य'** (मूर्खता, आलस्य) आदि **गुण, लक्षणा** के द्वारा बोधित होकर भी, वे **'गो'** शब्द के द्वारा **'वाहिक'** रूप **'अन्य अर्थ'** को **अभिधा से** बोधित करने मे **प्रवृत्तिनिमित्त** बन जाते हैं। अर्थात् **मुख्यार्थ 'गो'** के साथ एक अधिकरण (समानाधिकरण) में रहने वाले 'मन्दता, मूर्खता' आदि गुण यद्यपि **लक्षणा के द्वारा** व्यक्त होते हैं, तथापि **'गो'** (बैल) शब्द से **'वाहीक'** रूप अन्य वस्तु का **अभिधा से बोध** करा देने मे कारणीभूत होते हैं।

(२) **स्वार्थेति**। **'गो'** शब्द के **'स्वार्थ-सहचारी'** (अपने अर्थ के सहचारी) 'जाड्य, मान्द्य' आदि गुणों से **अभिन्न रूप में 'वाहीक' गत गुण** ही **'लक्षित'** होते हैं, किन्तु वे **अभिधा के द्वारा** 'वाहीक' अर्थ के बोधन मे **प्रवृत्तिनिमित्त नहीं** होते हैं। अर्थात् मुख्यार्थ के समानाधिकरण रहने वाले गुणों के साथ जो उनकी **एकरूपता** (अभिन्नता) है, उससे अन्य वस्तु (वाहीक) के **'गुणों'** का ही **लक्षणा से बोध** होता है, उस अन्य वस्तु (वाहीक) का **अभिधा से बोध नहीं** होता है, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

(३) **साधारणेति**। **'गौ'** तथा **'वाहीक'** दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से **'वाहीक'** अर्थ ही **'लक्षणा'** से उपस्थित होता है, ऐसा **मुकुलभट्ट** और **मीमांसक**

उक्तञ्चान्यत्र—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम् , न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

आदि अन्य लोग मानते हैं । इस अन्तिम पक्ष के साथ 'इत्यपरे' पद का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है । व्याख्याकारों ने इस 'अपरे' पद का 'न परे' इति 'अपरे' ऐसा नञ् समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है ॥

उक्तञ्चेति । अन्यत्र कुमारिलभट्टपाद के श्लोकवार्तिक में कहा भी है—

विशेष विवरण—इस विषय में तीसरे पक्ष (मुकुलभट्ट के मत) को उपयुक्त समझकर उसके समर्थनार्थ कुमारिलभट्टपाद के 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ से 'अभिधेयाविनाभूत' कारिका को उद्धृत किया गया है । इस कारिका का 'पूर्व अंश' जो ग्रंथकार ने दिया नहीं है, वह इस प्रकार है—'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।' सबको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा—

अभिधेयेति । मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाध होने पर अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) से सम्बद्ध (अविनाभूत) अर्थ की प्रतीति (बोध) कराने वाली शक्ति, 'लक्षणा' कही जाती है, और लक्ष्यमाण जाड्य-मान्द्यादि गुणों के योग (संबंध) से अर्थात् वाहीक में रहने से इस लक्षणावृत्ति की गौणता हो जाती है, अर्थात् इसे 'गुणेभ्यः आगतत्वात्' गौणी लक्षणा कहा जाता है ।

अविनाभाव इति । उक्त कारिका में प्रयुक्त 'अविनाभाव' शब्द से 'सम्बन्धमात्र' (सामान्य) ही समझना चाहिये, 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) नहीं । क्योंकि 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) अर्थ मानने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मंच पुकारते हैं— इत्यादि स्थलों में 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थित पुरुषों' के अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकेगी । तथा अविनाभाव (व्याप्ति) अर्थ करने पर तो आक्षेप (अनुमान) से ही लक्ष्यमाण अर्थ की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए लक्षणा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी । ग्रन्थकार ने इस तीसरे मत में अपनी रुचि प्रदर्शित की है, अन्यथा वे उसका खण्डन अवश्य करते ॥

शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण—

ऊपर गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणों को

(तयोः सम्बन्धान्तरमूलौ भेदौ)

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि तादृप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि ।

बताने के पश्चात् अब **'शुद्धा सारोपा'** तथा **'शुद्धा साध्यवसाना'** लक्षणा के उदाहरण दे रहे हैं—

आयुर्घृतमिति । **'आयुर्घृतम्'** घी आयु है और **'आयुरेवेदम्'** यह (घी) आयु ही है—इत्यादि उदाहरणों में ('आयुः' के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में) **सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त** (सादृश्य से भिन्न) **'कार्य-कारणभाव' आदि अन्य सम्बन्ध 'लक्षणा' के प्रयोजक हैं** । अर्थात् इस प्रकार के उदाहरणों में **'सारोपा'** और **'साध्यवसानिका' लक्षणा, 'कार्यकारणभावादि'** जैसे सम्बन्धों पर आधारित रहती हैं । अर्थात् **'आयुर्घृतम्'** में 'आरोप्यमाण पदार्थ' **'आयु'** है, तथा 'आरोपविषयपदार्थ' **'घृत'** है । दोनों के अनपह्नुत-स्वरूप उपात्त होने से (शब्दतः दोनों को बताने से) यह **'शुद्धा सारोपा'** लक्षणा का उदाहरण है । तथा **'आयुरेवेदम्'** में आरोप विषय **'घृत'** को शब्दतः उपात्त नहीं किया है अर्थात् आरोप विषय का स्वरूप अपह्नुत होने से यह **'शुद्धा साध्यवसाना'** लक्षणा का उदाहरण है ।

किसी विद्वान् का कहना है कि **'आयुरेवेदम्'** में **'इदं'** सर्वनाम से आरोप विषय का संकेत हो ही जाता है, अतः वह **'साध्यवसाना'** का ठीक उदाहरण नहीं बनता है । **'आयुः पिबामि'** यह अधिक अच्छा उदाहरण है ।

अत्रेति । यहाँ इन चारों उदाहरणों में से गौणी के (**गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसानिका के**) दोनों भेदों (**'गौर्वाहीकः'** तथा **'गौरयम्'**) में आरोप्यमाण **'गौ'** तथा आरोपविषय **'वाहीक'** का भेदज्ञान होने पर भी उन दोनों के **'तादात्म्य'** की प्रतीति **लक्षणा** से होती है । उन **दोनों के 'सर्वथा अभेद' का बोध करना ही इस गौणी लक्षणा का प्रयोजन है** । किन्तु 'शुद्धा सारोपा' और 'शुद्धा साध्यवसानिका' इन शुद्धा के दो भेदों में अन्य वस्तु की अपेक्षया विलक्षण रीति से एवं निश्चित रूप से विशिष्ट परिणाम पैदा करा देने का बोध कराना ही उसका फल है ।

विशेष विवरण—सादृश्य सम्बन्ध के अतरिक्त (भिन्न) सम्बन्ध रहने पर शुद्धा लक्षणा होती है, यह पहले बता चुके हैं । उसे **'शुद्धालक्षणा'** के दो उदाहरण **'आयुर्घृतम्' और 'आयुरेवेदम्'** भी प्रदर्शित किये थे, उसी प्रकार के कुछ अन्य

कचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा—इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। कचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा—राजकीयः पुरुषो राजा। कचिदवयवावयविभावाद्, यथा—अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। कचित् तात्कर्म्याद्, यथा—अतक्षा तक्षा।

(लक्षणाया भेदसंकलनम्)

(सू० १७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यां सह।

उदाहरण भी दिखा रहे हैं, जिनमें 'सादृश्यसम्बन्ध' से भिन्न 'अन्यान्य सम्बन्ध' भी लक्षणा के प्रयोजक हो रहे हैं, अतः ये सब **शुद्धा लक्षणा** के उदाहरण हैं।

कचिदिति। कहीं पर **तादर्थ्य** से 'उपचार' होता है, अर्थात् 'उसके लिए' होने से अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'यज्ञ में इन्द्र' की पूजा करने के लिए बनाई गई **स्थूणा** (स्तम्भ) भी **'तादर्थ्यसंबंध'** से **'इन्द्र'** कही जाती है। अर्थात् 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः' में **'इन्द्र' और 'स्थूणा' में 'उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध' है।**

कहीं पर **'स्व-स्वामिभावसम्बन्ध'** से अन्य शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग किया जाता है। जैसे **'राजकीयः पुरुषो राजा'** राजा का विशेष कृपा-पात्र **'पुरुष'** भी **'राजा'** कहलाता है।

कहीं पर **'अवयवावयविभावसम्बन्ध'** से औपचारिक प्रयोग (अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग) किया जाता है। जैसे **'अग्रहस्तः'** यहाँ पर हाथ के केवल आगे के भाग (अंगुलि) के लिए **'हस्त'** शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कहीं पर उस कर्म के करने के कारण अर्थात् **'तात्कर्म्यसम्बन्ध'** से औपचारिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे **अतक्षा 'तक्षा'** = बढ़ई का काम करने वाला **'अतक्षा'** अर्थात् बढ़ई के अतिरिक्त (भिन्न) ब्राह्मण आदि किसी व्यक्ति के लिए भी **'तक्षा'** बढ़ई शब्द का प्रयोग **'तात्कर्म्यसम्बन्ध'** से किया जाता है।

(सू० १७) इसलिए **'लक्षणा'** छः प्रकार की हुई ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यामिति। आद्य दोनों भेदों (शुद्धा उपादान-लक्षणा तथा शुद्धा लक्षण-लक्षणा) के साथ **'शुद्धा'** तथा **'गौणी'** दोनों में से प्रत्येक के **सारोपा** तथा **साध्यवसाना** के दो-दो भेद, कुल **चारों भेदों को मिलाकर 'लक्षणा' के छह भेद होते हैं।**

लक्षणा	उदाहरण
१ उपादान सारोपा	कुन्ताः पुरुषाः प्रविशंति।
२ उपादान साध्यवसाना	कुन्ताः प्रविशंति।
३ लक्षणलक्षणा सारोपा	आयुर्घृतम्।
४ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना	आयुरेवेदम्। गंगायां घोषः।
५ गौणी सारोपा	गौर्वाहीकः।
६ गौणी साध्यवसाना	गौरयम्।

लक्षणा षड्विधा

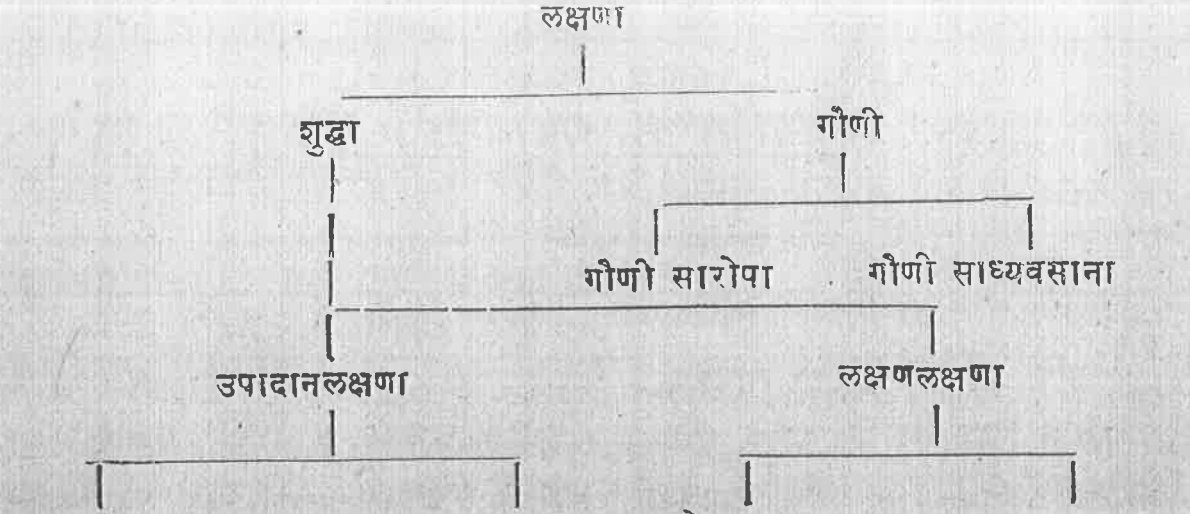

कुछ विद्वानों का कहना है कि शुद्धात्वादि छह उपाधियों के द्वारा **लक्षणा के छह भेद बताना ठीक नहीं** है, क्योंकि **(१) निरूढात्व और (२) प्रयोजनवत्त्व** इन दो भेदों को भी मिलाना चाहिये, जिससे **लक्षणा के आठ भेद** (अष्टविधत्व) बताने चाहिये। इसका **समाधान** यह है कि प्रथमतः लक्षणा के निरूढा और प्रयोजनवती दो विभाग होंगे। तदनन्तर प्रयोजनवती के शुद्धात्वादि उपाधियों से छह विभाग करने होंगे। अतः इसे विभक्त-विभाग ही कहना होगा। इसलिए षड्विधत्व कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। **वास्तविकता** तो यह है कि **'व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ'** (सू० १८) इस अग्रिम ग्रन्थ को देखने से स्पष्ट प्रतीति होता है कि **'रूढि और प्रयोजन'** की दृष्टि से भेद को यहाँ कहा भी नहीं है, इसलिए **रूढि-प्रयोजन-कृत अधिक भेदों की कल्पना करना उचित नहीं** है। यद्यपि **'रूढितोऽथ प्रयोजनात्'** (सू० १२) से रूढि और प्रयोजन बताये गये हैं, तथापि उन्हें **विभाजक के रूप में नहीं** बताया गया है, अपितु **हेतु के रूप में** बताया गया है। अन्यथा पुनरुक्ति होगी।

अन्य आलङ्कारिक विद्वान् लक्षणा के **षड्विध विभाग को अनुपपन्न** बताते हैं, क्योंकि गौणी के भी उपादान और लक्षणलक्षणारूप दो भेद हो सकते हैं। जैसे–**गोर्वाहीकसाधारण्येन 'गावः एते समानीयन्ताम्'** और **'गावः समानीयन्ताम्'** इसप्रकार उपादान सारोपा एवं साध्यवसाना के दो उदाहरण संभव हैं। इसलिए **'षड्विधा'** का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—**'षड्भिरूपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकाराः यस्यां सा षड्विधा'**। अर्थात् छह उपाधियों से उसके अनेक प्रकार कल्पित किये जाते हैं।

किन्तु ऐसा समझना **केवल भ्रममात्र** है, क्योंकि तेरहवें सूत्र में **'शुद्धैव'** में **'एव'** शब्द का प्रयोग और **'सारोपान्या तु'** (सू० १४) में **'तु'** शब्द का प्रयोग

(उक्तभेदाया लक्षणायाः पुनः प्रकारत्रयम्)

सा च—

(सू०१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ॥

(सू०१९) तच्च गूढमगूढं वा—

किया गया है। ग्रन्थकार के 'एव' और 'तु' शब्द की ओर ध्यान न पहुँच पाने से यह भ्रम होना संभव है। किंच 'स्वसादृश्य' कभी स्ववृत्ति नहीं होता है अतः उपादानादि का संभव ही नहीं है, और संबंधांतर से मानने पर उसमें गौणत्व नहीं कह सकते।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के सोलह भेद बताये हैं। लक्षणा के विभाग करते समय दर्पण में 'षोडश-भेदिता लक्षणा' बताया गया है। इस प्रकार रूढि-लक्षणा और प्रयोजनवती-लक्षणा के दो भेद पहले किये। दोनों के उपादान और लक्षण भेद से दो-दो भेद कर चार भेद बताये। बाद चारों के सारोपा–साध्यवसाना भेद से आठ भेद किये। फिर आठों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद किये। सब को मिलाने से कुल १६ भेद लक्षणा के प्रदर्शित किये।

किन्तु ग्रन्थकार मम्मटभट्ट और मुकुलभट्ट दोनों ने 'उपादन और लक्षण-लक्षणा' ये दो भेद केवल 'शुद्धा' के ही माने हैं, 'गौणी' के नहीं, इसलिए इन के छः ही भेद होते हैं। विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं। मम्मट के छह भेदों में जोड़ देने से आठ (८) भेद हो जाते हैं। पुनः उसके रूढि–प्रयोजन से दो भेद कर दिये हैं। इसलिए विश्वनाथ के मत में लक्षणा के १६ भेद हो जाते हैं।

प्रस्तुत भेदों से युक्त लक्षणा के पुनः तीन प्रकार—

सा चेति। और वह—

(सू० १८) 'रूढि' पर जब आधारित हो तब उसमें व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहता है किन्तु जब वह 'प्रयोजन' पर आधारित रहती है, तब उसमें व्यङ्ग्यार्थ रहता है। अर्थात् 'रूढि' के कारण होने वाले भेदों में व्यङ्ग्य से रहित तथा 'प्रयोजन' के कारण होने वाले भेदों में व्यङ्ग्य के सहित वह होती है॥

प्रयोजनं होति। क्योंकि 'व्यञ्जना' का व्यापार होने पर ही प्रयोजन को जाना जा सकता है। अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है, इसलिए वह व्यङ्ग्यसहित ही हुआ करती है।

(सू० १९) और वह 'व्यङ्ग्य प्रयोजन' कहीं पर 'गूढ' अर्थात् दुर्बोध,

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥ १ ॥

(सहृदयैकमात्रगम्य) और कहीं पर 'अगूढ' अर्थात् स्पष्ट (सर्वजनसंवेद्य) होता है ।

तच्चेति । और 'वह' अर्थात् **व्यङ्ग्य** । 'तच्च' में 'तत्' सर्वनाम पूर्वप्रयुक्त व्यङ्ग्य का परामर्शक है ।

गूढमिति । **गूढ व्यङ्ग्य** का उदाहरण । जैसे—

मुखं विकसितेति । किसी युवती को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस चन्द्रमुखी के अङ्गों में यौवन का उदय मुदित हो रहा है । इसके मुख पर 'स्मित' (मुसकान) विकसित है । 'वक्रिमा' (वंकता) को वश करनेवाला 'कटाक्षपात' है । 'गति' में 'विलासों' (विभ्रमों) की छटा है । 'बुद्धि' में 'परिमित विषयता' का त्याग है । 'कुच' अधखिली कली हैं । 'जघनस्थल' अवयवों के पुष्ट होने से उभर रहा है अर्थात् जघन प्रदेश रतिक्रीडा के योग्य हुआ है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—कवि ने ऊपर के उदाहरण में यौवन से ओत-प्रोत हुई युवती के स्मित (मुसकान) से, उसकी दृष्टि से, उसकी हाव-भाव भरी गति से, उसके अंग-प्रत्यंग से, यौवन के प्रस्फुटित होने का सहृदयगम्य हृद्य चित्र खींच दिया है । किन्तु यह 'व्यङ्ग्यार्थ' गूढ है, इसे सहृदय काव्यमर्मज्ञ ही जान सकते हैं । यहाँ **लक्षणा-मूला व्यञ्जना** है । **काव्यप्रकाशकार** ध्वनिवादी आचार्यों के अनुयायी होने से इन्होंने भी **प्रयोजनवती लक्षणा में 'प्रयोजन' को व्यञ्जनागम्य** ही माना है ।

उक्त उदाहरण में आये हुए शब्द, मुख्यार्थ का बाध हो जाने से लक्षणा के विषय निम्नांकित प्रकार से हो रहे हैं—

'यौवन' (तरुणिमोद्गम) कोई चेतन वस्तु नहीं है । वह मुदित (हर्षित) नहीं हो सकता है । इस कारण यहाँ **मुख्यार्थ का बाध** हो रहा है । इसका **लक्ष्यार्थ** है—**यौवन अवस्था-जनित उत्कर्ष**, अर्थात् अत्यन्त सौन्दर्य । तथा **व्यङ्ग्यार्थ** है—**'नायिका में अभिलाषा का होना'** ।

'विकसित' का अर्थ है 'प्रफुल्लित होना', किन्तु 'प्रफुल्लित होना' (खिलना) तो पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान (स्मित) का । इस कारण मुख को विकसित करने में **मुख्यार्थ का बाध** हो रहा है । अतः 'विकसित' का **लक्ष्यार्थ** है—

उत्कर्ष। मुख्यार्थ 'विकसित' के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का 'असङ्कोचरूप' सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि विकास और आधिक्य दोनों में 'असङ्कोच' रहता है। और 'विकसित' का व्यङ्ग्यार्थ है—'मुख को पुष्पों के समान सुगन्धित सूचित करना।'

इसमें सादृश्य सम्बन्ध होने से 'गौणी', 'मुख' एवं 'विकसित' दोनों का कथन होने से 'सारोपा' और 'विकसित' ने अपना मुख्यार्थ त्याग दिया है, इस कारण 'लक्षण-लक्षणा' है।

'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है—'किसी को अपने वश में कर लेना', किन्तु यह चेतन का धर्म है। 'कटाक्षों' द्वारा 'वक्रिमा' (बाँकेपन) को वश में करना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। 'वशीकृत' का लक्ष्यार्थ 'स्वाधीन करना' यहाँ पर स्वीकार किया गया है। अपने अभिलषित विषय में 'प्रवृत्तिरूप सम्बन्ध' है। और 'अपने प्रेमी में अनुराग सूचित करना' ही उसका प्रयोजन व्यंग्य है।

'विभ्रम' अर्थात् युवतियों के हाव-भाव, यह कोई उछलनेवाली वस्तु नहीं है। 'उछलना' धर्म तो जल आदि का है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ पर 'विभ्रम' (उछलने) का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' स्वीकार किया गया है। 'प्रेर्य-प्रेरकभावसम्बन्ध' है। 'मनोहरता' व्यङ्ग्य है।

'मति' में मर्यादा का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'मर्यादा' का त्याग करना 'चेतन' का धर्म है। यहाँ पर लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। 'कार्य-कारणभावसम्बन्ध' है। 'अनुराग का आधिक्य' व्यङ्ग्य है।

'मुकुलित' का मुख्यार्थ अधखिला रहना है। कुचों (स्तनों) को अधखिला कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'आधा खिलना' पुष्पों का होता है, न कि मनुष्य के अंगों का। अतः इसका लक्ष्यार्थ 'काठिन्य' (उभार) है। अवयवों की 'सघनतारूप सादृश्य सम्बन्ध' है। 'मनोहरता' या आलिंगन योग्यत्व को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

'उद्धुरत्व' का मुख्य अर्थ 'उत्कृष्टधुरात्व' (धुरा को उठाया हुआ) है। जघनस्थल को 'उद्धुर' कहने में मुख्यार्थ का बाध होता है। 'उद्धुरत्व' का लक्ष्यार्थ 'रमणीयत्व' है। 'भार' को सहन कर पाना रूप 'सादृश्य सम्बन्ध' है। 'विलक्षणरति-योग्यता' को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

इनमें जहाँ-जहाँ 'सादृश्य सम्बन्ध' है, वहाँ गौणी लक्षणा है, और जहाँ अन्य सम्बन्ध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इस प्रकार इस पद्य (काव्य) में जो व्यङ्ग्य

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥ १० ॥

अर्थ है, वह गूढ़ है अर्थात् वह सर्वजन-संवेद्य नहीं है। साधारण व्यक्ति इस व्यंग्यार्थ को सहज में नहीं समझ सकता है। इस व्यंग्यार्थ को 'काव्यमर्मज्ञ सहृदय' ही समझ सकता है। इसलिए 'इस पद्य' को गूढ व्यङ्ग्य के उदाहरणरूप में प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ गूढव्यंग्या लक्षणा है।

काव्यप्रकाश की संस्कृत टीका 'प्रदीप' के लेखक ने गूढव्यंग्या लक्षणा के उदाहरण-रूप में स्वरचित पद्य प्रस्तुत किया है—

'चकोरीपाण्डित्यं मलिनयति दृग्भङ्गिमहिमा
हिमांशोरद्वैतं कवलयति वक्त्रं मृगदृशः ।
तमोवैदग्ध्यानि स्थगयति कचः, किंच वचनं
कुहूकण्ठीकण्ठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति' ॥

इस मृगनयनी (हरिणाक्षी) के नेत्र-कटाक्षों का प्रभाव चकोरी की चतुराई को तिरस्कृत (फीका) कर देता है, इसका वदन (मुख) चन्द्रमा की अनुपमता (अद्वितीयता—बेजोड़पन) को ग्रस लेता है, इसका केशकलाप अन्धकार की सघनता को मात (तिरस्कृत) करता है, और इसकी ध्वनि (आवाज) कोयल के कण्ठ से निकलने-वाली ध्वनि के माधुर्य को फीका बना देती है।

इस पद में चार क्रियापद 'मलिनयति, कवलयति, स्थगयति, और तिरयति' हैं, ये सब लाक्षणिक हैं। ये चारों क्रियापद 'लक्षणलक्षणा' के उदाहरण रूप हैं ॥

गूढ-व्यङ्ग्या लक्षणा—

जहाँ ऐसा व्यङ्ग्यार्थ हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ व्यङ्ग्या लक्षणा होती है।

अगूढमिति। 'अगूढ' व्यङ्ग्य का उदाहरण। जैसे—

श्रीपरिचयादिति। लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर (श्री से परिचय हो जाने पर) मूर्ख (जड) अर्थात् मन्दबुद्धि के मनुष्य भी चतुरों के व्यवहारों के (विदग्धों के चरित्रों के) यानी रीति-रिवाजों के जानकार (अभिज्ञ) हो जाते हैं। (उपर्युक्त कथन का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार के द्वारा कर रहे हैं) यौवन का मद ही कामिनी को विलास का पाठ पढ़ा देता है ॥ १० ॥

अत्रोपदिशतीति ।

(व्यङ्ग्यगर्भिताया लक्षणायास्त्रैविध्यप्रतिपादनम्)

(सू०२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'उपदिशति' पद का **मुख्यार्थ** है—'अज्ञात अर्थ को शब्द द्वारा बताना' अर्थात् 'उपदिशति' का अर्थ सिखाना यानी **शिक्षा देना** है । किन्तु इस प्रकार उपदेश करना तो **चेतन का धर्म** है (कार्य है) । 'यौवन' तो जड है, उसके द्वारा उपदेश दिया जाना असंभव है । अतः **मुख्यार्थ का बाध** हो जाता है । इसलिए 'उपदिशति' का **लक्ष्यार्थ**—**'आविष्करोति'** (प्रकट करता है) है ।

विशेष विवरण—'प्रकट करना' यह सामान्य वाक्य है, और 'उपदेश देना' (सिखाना) यह **विशेष वाक्य** है । अतः यहाँ **'सामान्य-विशेषभावसम्बन्ध'** है, इस कारण यहाँ **शुद्धा लक्षणा** है । अनायास 'लालित्य का ज्ञान होना' यह **व्यंग्य अर्थ** है **'अनाचार्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्'**—बिना शिक्षा प्राप्त किये ही रतिचेष्टाओं के ज्ञान को **'ललित'** कहते हैं । यह व्यंग्यार्थ **'गूढ'** नहीं है, सहज ही में ज्ञात हो सकता है । अतः **अगूढ व्यंग्य** का यह उदाहरण है । **'उपदिशति'** पद ने अपने **'मुख्यार्थ'** को त्याग दिया है । अतः यहाँ **लक्षण-लक्षणा** है । **'अगूढ गुणीभूतव्यंग्य मध्यम काव्य'** में **यही लक्षणा** होती है । 'गूढ' के समान 'अगूढ व्यंग्य' भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है । **'विदग्ध'** (वि + दह् + क्त) का मुख्य अर्थ, विशेषरूप से पका हुआ । जैसे मिट्टी का घड़ा खूब अच्छी तरह से पका हुआ टन-टन आवाज करने वाला, टिकाऊ, व्यवहार योग्य होता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र में परिपक्व हुआ सहृदय व्यक्ति, व्यवहार-कुशल होता है । अतएव **'विदग्ध'** शब्द से उसका निर्देश किया जाता है । इस **'विदग्ध'** प्रयोग को **'सादृश्य-मूलकरूढसाध्यवसाना लक्षणा'** का उदाहरण कह सकते हैं । **'प्रयोजन'** की दृष्टि से **लक्षणा** के जो **तीन प्रकार** कहे गए हैं, उनमें से **'गूढव्यंग्य'** संज्ञक प्रथम प्रकार **'उत्तम काव्य'** अर्थात् ध्वनिकाव्य में समझा जाता है, और जब व्यंग्यार्थ **'अगूढ'** या **'अतिगूढ'** (क्लिष्ट) हो, तब वह काव्य **गुणीभूतव्यंग्य** अर्थात् मध्यम काव्य के रूप में कहलाता है । अत एव किसी कवि ने कहा है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

यहाँ पर कवि ने काव्य के 'व्यंग्यार्थ' का स्वरूप विशद करने में स्त्रियों की वेषभूषा से संबंधित उनके उत्तरीय वस्त्रपरिधान के वैशिष्ट्य का चतुराई से निरूपण किया है ।

(सू० २०) इस प्रकार यह **'लक्षणा'** व्यंग्य की दृष्टि से **तीन** प्रकार की बताई गई ॥ १३ ॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(लाक्षणिक-शब्दलक्षणम्)

(सू०२१) तद्भूर्लाक्षणिकः--

शब्द इति सम्बध्यते, तद्भूस्तदाश्रयः ।

(लक्षणामूला व्यञ्जना)

(सू०२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

अव्यङ्ग्येति । (१) 'अव्यङ्ग्या' व्यंग्यार्थ से रहित, (२) 'गूढव्यङ्ग्या' गूढव्यंग्यार्थ के सहित, (३) 'अगूढव्यङ्ग्या' प्रकट व्यंग्यार्थ वाली--यह कहकर उक्त तीन प्रकारों को स्पष्ट किया है ।

द्वितीय उल्लास के आरंभ में दी गई 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' (सू० ५) कारिका में 'वाचक' 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया गया था । उनमें से 'वाचक' शब्द को 'साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' (सू० ९) से बता दिया गया है । लक्षणा का विवेचन करने के बाद, उसके आश्रयभूत लाक्षणिक शब्द का लक्षण अब कर रहे हैं—

(सू० २१) लक्षणा के 'आश्रयभूत शब्द' को 'लाक्षणिक' शब्द कहते हैं ।

शब्द इतीति । द्वितीय उल्लास की प्रथमकारिका अर्थात् सूत्र ५ से 'शब्द' पद का सम्बन्ध 'मण्डूकप्लुतिन्याय' से यहाँ पर किया गया है । 'तद्भूः' का अर्थ है—उस लक्षणा का आश्रय ।

लक्षणामूलक व्यञ्जना

(सू० २२) उस व्यङ्ग्यार्थरूप प्रयोजन की प्रतीति कराने में 'लाक्षणिक' शब्द का लक्षणा व्यापार से भिन्न (पृथक्) व्यञ्जनारूप व्यापार होता है ।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार की अनिवार्यता—

विशेष विवरण--मुकुलभट्ट ने 'रूढि' तथा 'प्रयोजन' को 'लक्षणा' का प्रयोजक हेतु कहा है । 'रूढेः प्रयोजकाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते ।' कारिका भाग की व्याख्या में उन्होंने 'लक्षणा' का प्रयोजन, 'पुण्यत्व, मनोहारित्वादि का प्रतिपादन' माना है । क्योंकि उक्त प्रयोजन की प्रतीति, 'स्व' शब्द से अभिधा के द्वारा नहीं हो पाती । किन्तु ध्वनिवादी आचार्य तो प्रयोजन की प्रतीति 'व्यंजना-व्यापार' से ही मानते हैं । लेकिन मुकुलभट्ट को 'व्यञ्जनाव्यापार' मान्य नहीं है । इनके मत में प्रयोजन की प्रतीति 'लक्षणावृत्ति' से ही होती है ।

कुत इत्याह—

(व्यञ्जनाया आवश्यकता)

(सू० २३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनाऽपरा क्रिया ।

इस पर ध्वनिवादी का प्रश्न है कि यदि 'लक्षणावृत्ति' से ही 'प्रयोजन' की प्रतीति कहें तो वह दो प्रकार से कही जा सकती है—एक प्रकार यह होगा कि उस 'प्रयोजन' को ही लक्ष्यार्थ कहा जाय। और दूसरा प्रकार यह होगा कि 'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' से भिन्न कहें तो 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' से कही जायगी।

मुकुलभट्ट के ग्रन्थ—"अत्र हि गंगा-शब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीप-समीपि-भावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण 'तटं' लक्षयति।" से प्रतीत होता है कि संभवतः वे 'तट' को लक्ष्यार्थ मानते होंगे, अतः 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना नहीं कर सकते। तब 'पुण्यत्व, मनोहारित्व' आदि 'प्रयोजन' की प्रतीति, 'गंगा' शब्द से तभी हो सकती है कि जब 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' के द्वारा मानी जाय। परन्तु मुकुलभट्ट ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने उक्त दोनों पक्षों की आलोचना करते हुए १६ वीं तथा १७ वीं कारिका के पूर्वार्ध में 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना का और १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका में 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' में लक्षणा मानने का निरसन किया है। उनके निरसन करने का अभिप्राय यह है कि यदि 'प्रयोजन' को 'लक्षणा' का प्रयोजक मानते हैं, तो उस 'प्रयोजन की प्रतीति' 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' से तो हो नहीं सकती। अतः उसकी (प्रयोजन की) प्रतीति के लिए व्यंजना को अवश्य ही मानना होगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट 'कुत इत्याह' ग्रन्थ से बता रहे हैं।

प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण—

कुत इत्याहेति। व्यञ्जनाव्यापार ही क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

(सू० २३) जिस किसी 'प्रयोजन' की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा (लाक्षणिक शब्द) का सहारा स्वीकार किया जाता है ॥ १४ ॥ केवल शब्द से गम्य (अनुमान आदि से नहीं) उस प्रयोजन (फल) की प्रतीति के लिए 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त शब्द का और कोई व्यापार नहीं हो सकता है ॥

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्रलक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।

तथा हि—

(प्रयोजनप्रत्यायने अभिधाया अनुपयोगः)

(सू० २४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः।

(नापि लक्षणाविषयः)

(सू० २५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषयेति। 'प्रयोजन विशेष' के प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनुमानादि अन्य किसी उपाय (साधन) से उस प्रयोजन की प्रतीति नहीं हुआ करती, अपितु 'उसी शब्द' से होती है। उसके बोधन में 'शब्द' का व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोइ व्यापार नहीं होता है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है।

तथा हीति। क्योंकि—

(सू० २४) संकेतग्रह के न होने से 'अभिधावृत्ति' प्रयोजन का बोधन नहीं करा सकती।

गंगायामिति। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में 'पावनत्व, शीतलत्व' आदि जो धर्म 'तट' में प्रतीत होते हैं, उनमें 'गङ्गा' आदि शब्दों का संकेतग्रह (शक्तिग्रह) नहीं है। अतः उन धर्मों का ज्ञान 'अभिधा' से नहीं हो सकता है।

प्रयोजन की लक्ष्यता का खण्डन—

(सू० २५) लक्षणा के प्रयोजक 'मुख्यार्थबाध आदि' हेतुओं के न होने से 'लक्षणा' भी प्रयोजन को नहीं बता सकती ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादिति। 'मुख्यार्थ का बाध' और उसके साथ-साथ 'मुख्यार्थ से सम्बन्ध' तथा 'रूढि' अथवा 'प्रयोजन' में से कोई एक—ये 'तीन कारण' 'लक्षणा' करने में कारण हुआ करते हैं। वे तीनों कारण यहाँ नहीं हैं। अतः प्रयोजक सामग्री के न होने से 'प्रयोजन' का ज्ञान 'लक्षणा' से भी नहीं हो सकता है।

विशेष विवरण—२५ वें सूत्र में बताया है कि लक्षणा के प्रयोजक तीन हेतुओं (मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई एक) में से कोई भी हेतु न होने से लक्षणा के द्वारा प्रयोजन का बोध नहीं कराया जा सकता। अग्रिम कारिका में इन्हीं हेतुओं के अभाव का उपपादन किया जायगा।

(१) अभिप्राय यह है कि 'गङ्गा' पद से 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति होने के बाद जो 'शैत्य-पावनत्वादि धर्मों' की प्रतीति होती है, 'उसे' यदि लक्ष्यार्थ मान लें तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाले 'तट' रूप अर्थ को मुख्यार्थ कहना होगा, किन्तु वह तो लक्ष्यार्थ है, अतः उसे मुख्यार्थ नहीं कह सकते, कथञ्चित् यदि उसे मुख्यार्थ मान भी लें तो 'लक्षणा' होने के पूर्व उसका बाध होना चाहिये, लेकिन उसका 'बाध' भी नहीं हो रहा है, क्योंकि 'तट' पर 'घोष' होता ही है। इसलिए भी 'लक्षणा' नहीं होगी। इस रीति से अगली कारिका (सूत्र २६) के 'लक्ष्यं न मुख्यं' 'नाऽप्यस्य बाधः' इस प्रथम चरण से 'मुख्यार्थबाध' रूप लक्षणा के प्रथम कारण का अभाव बताया गया है।

(२) 'लक्षणा' होने में दूसरा कारण 'लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' है। यदि 'शैत्य-पावनत्व' आदि धर्मों (प्रयोजन) को लक्ष्यार्थ कहा जाय तो 'तट' को मुख्यार्थ कहना होगा तब मुख्यार्थ रूप 'तट' के साथ लक्ष्यार्थ रूप 'शैत्य-पावनत्व' आदि का (प्रयोजन का) सम्बन्ध बताना होगा, किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' का सम्बन्ध तो 'गंगा' शब्द के मुख्यार्थ रूप 'जलप्रवाह' के साथ है, 'तट' के साथ नहीं है। इसलिए 'मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' रूप दूसरा हेतु भी नहीं है। इस बात को अगली कारिका के 'योगः फलेन नो' इस द्वितीय चरण के अंश से बताया गया है। तात्पर्य यह है कि 'लक्ष्यार्थ रूप' में कल्पित किये गये 'शैत्यपावनत्व आदि' फल (प्रयोजन) के साथ कल्पित मुख्यार्थ रूप 'तट' का सम्बन्ध भी न होने से 'लक्षणा' के दूसरे हेतु (कारण) का भी अभाव बताया गया है।

(३) अब 'लक्षणा' में तीसरा हेतु (कारण) 'रूढि या प्रयोजन में से किसी एक की स्थिति' है। किन्तु इन दोनों में से कोई एक भी यहाँ नहीं है। क्योंकि 'गङ्गा' शब्द 'शैत्य-पावनत्वादिधर्मों' में रूढ़ नहीं है। यदि 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ कहें तो पुनः उसका कोई 'अन्य प्रयोजन' कहना होगा। किन्तु 'शैत्य पावनत्वादि प्रयोजन' का कोई 'अन्य प्रयोजन' नहीं माना जा सकता। यदि 'अन्य प्रयोजन' मानने का आग्रह ही किया जाय तो उस 'प्रयोजन' का भी 'प्रयोजन', पुनः उसका भी 'प्रयोजन' कहना होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष उपस्थित हो जायगा। अतः 'प्रयोजन' का पुनः प्रयोजन मानना उचित नहीं है। इसलिए 'रूढि और प्रयोजन' में से किसी एक (अन्यतर) की उपस्थितिरूप तीसरे कारण का भी अभाव है। इस कारण 'प्रयोजन की प्रतीति' 'लक्षणा' से नहीं करायी जा सकती। इस बात को कारिका के उत्तरार्ध के 'न प्रयोजनमेतस्मिन्' इस अंश से कहा गया है। यह अभिप्राय २६ वीं कारिका के तीन चरणों का है।

'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' कहें तो उसके विषय में 'शब्द' का 'रखलद्-

(प्रयोजनप्रतिपादने लक्षणाया असामर्थ्यम्)

तथा च—

(सू० २६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्वलद्गतिः ॥ १६ ॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् , न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न

गति' होना जरूरी है। अन्यथा मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ संबंध आदि के पश्चात् ही उस अर्थ का बोध होना चाहिये। 'लक्षणा' के प्रयोजक 'मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं' के बिना यदि उस शब्द से 'अर्थ प्रतीति' न हो सके, तब उस 'अर्थ' को 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है। जैसे—'गङ्गा' शब्द का 'लक्ष्यार्थ' 'तट' है, क्योंकि मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के उपस्थित हुए बिना 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ को बताने में समर्थ नहीं है। अर्थात् वह 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ का बोध कराने में 'स्खलद्गति' है। इसलिए उस 'तट' रूप अर्थ को वह 'गंगा' शब्द 'लक्षणा' के द्वारा बता देता है। किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन को बताने में 'गङ्गा' आदि लाक्षणिक शब्द 'स्खलद्गति' (असमर्थ) नहीं है। तात्पर्य यह है कि शैत्य-पावनत्वादि धर्मों को (प्रयोजन को) 'मुख्यार्थबाध' के बिना भी वह शब्द बता देने में समर्थ है, क्योंकि 'गंगा' शब्द के 'जल-प्रवाहरूप अर्थ' के साथ वे धर्म स्वयं ही उपस्थित होते हैं। इसलिए प्रयोजन रूप अर्थ के प्रतिपादन करने में वह 'शब्द' स्खलद्गति नहीं है। अतः 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' का बोध कराने के लिए 'लक्षणा' की आवश्यकता नहीं है। उस अर्थ को बताने के लिए तो 'व्यञ्जनाव्यापार' को ही मानना होगा।

तथा चेति। इसी अभिप्राय को मम्मटभट्ट २६वीं कारिका के द्वारा बता रहे हैं।

(सू० २६) लक्ष्यार्थ (तट) 'मुख्यार्थ' नहीं है, और न उसका यहाँ बाध होता है, तथा न उसका 'फल' (शैत्य-पावनत्व) के साथ 'सम्बन्ध' है, और उस 'प्रयोजन को लक्ष्यार्थ' मानने में कोई 'प्रयोजन' (फल) भी नहीं है, और न 'प्रयोजन' के विषय में 'लाक्षणिक शब्द' स्खलद्गति ही है। अर्थात् मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना 'प्रयोजन' का बोध कराने में वह असमर्थ भी नहीं है। 'मुख्यार्थबाधादि' के बिना भी वह 'गंगा शब्द' शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन को अभिव्यक्त कर सकता है। 'मुख्यार्थ बाध' होने पर तो वह गंगा शब्द 'तट' को ही बताता है, 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को नहीं ॥ १६ ॥

यथेति। जैसे—'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में 'घोष' का आधार बनने के लिए 'गङ्गा' अपने 'जलप्रवाहरूप' मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) में बाधित होता है।

च गंगाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, नापि गंगाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुम-समर्थः ।

इसलिए वह (गङ्गाशब्द) 'लक्षणाव्यापार' की सहायता से 'तट' रूप लक्ष्यार्थ को बताता है, उसी प्रकार यदि 'तट' में भी वह (गङ्गाशब्द) बाधित हो, तब वह (गङ्गाशब्द) 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को लक्षणा व्यापार से बता सकता है। अर्थात् पहले तो 'तट' को 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ माना जाय, और उसमें (तट में) 'घोष' का आधार बनने की योग्यता का न होना समझा जाय, तब कहीं मुख्यार्थ का बाध कहा जायेगा और तब 'लक्षणा' से प्रयोजन का बोध कहा जा सकेगा। किन्तु न तो 'तट' रूप अर्थ 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ है, और न उसका बाध होता है। एवं च मुख्यार्थबाध रूप प्रथम हेतु नहीं है। और यदि 'तट' रूप अर्थ को 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ, हठात् मान भी लें, तब भी 'गङ्गा' शब्द के 'तट' रूप 'कल्पित मुख्यार्थ' का उस लक्ष्यार्थ (जिसे आप लक्षणा से बताना चाह रहे हैं) 'शैत्य-पावनत्वादि' के साथ संबंध भी नहीं है। क्योंकि 'शैत्य-पावनत्वादि' का संबंध तो जलप्रवाह से है, 'तट' से नहीं। इसलिए 'मुख्यार्थ' के साथ 'लक्ष्यार्थ' का सम्बन्धरूप द्वितीय हेतु भी नहीं है। अब लक्षणा का तीसरा हेतु 'रूढ़ि' अथवा 'प्रयोजन' में से किसी एक की उपस्थिति होना आवश्यक है। किन्तु यहाँ उसका भी अभाव है। क्योंकि 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने में कोई 'अन्य प्रयोजन' भी नहीं दिखाई देता, और उस प्रयोजन को बताने में 'गङ्गाशब्द' असमर्थ (स्खलद्गति) भी नहीं है, क्योंकि वह (गङ्गाशब्द) 'तट' रूप अर्थ को बताने में जैसा समर्थ है, वैसे ही वह 'प्रयोजन' को भी बताने में समर्थ है। इसलिए 'प्रयोजन का बोध' लक्षणा से नहीं हो सकता। इस रीति से 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ समझना संभव नहीं है ॥ १६ ॥

फिर भी व्यञ्जना-विरोधी 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें और उसके लिए 'प्रयोजन' में भी कोई 'अन्य प्रयोजन' बताने का प्रयत्न भी करें, तो भी वह निरर्थक होगा, क्योंकि उस दशा में वह 'अन्य प्रयोजन' भी 'लक्ष्य' ही होगा, तब उस प्रयोजन के लिए 'किसी तीसरे प्रयोजन' की आवश्यकता रहेगी, पुनः उस तीसरे प्रयोजन के लिए 'चौथे प्रयोजन' की, इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रयोजन की आवश्यकता होने से 'अनवस्था' उत्पन्न होगी। इस प्रकार का अनवस्था दोष 'मूल' का ही विनाशक हो जाता है। इसलिए मूल-विनाशक अनवस्था दोष के भय से भी 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ नहीं कह सकते। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार २७ वें सूत्र से अब बता रहे हैं—

(लक्षणाप्रयोजनस्य लक्षणाविषयत्वे दोषः)

(सू०२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताऽप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाया अनुपपत्तिः)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते, गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

(सू० २७) इस प्रकार भी अनवस्था दोष होगा, जो मूल का ही नाशक हो जाता है ।

एवमिति । इस प्रकार यदि 'प्रयोजन लक्षित' होता है—यह कहें, तो वह 'अन्य प्रयोजन' से, और वह भी 'अन्य प्रयोजन' से लक्षित मानना होगा । इस प्रकार 'प्रयोजन' की अविश्रान्त परम्परा की कल्पना करते रहने के कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजनरूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में भी बाधा पहुँचाने वाली मूलक्षयकारिणी अनवस्था होगी ।

प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा का खण्डन—

विशेष विवरण—यहाँ तक मम्मटभट्ट ने यह बताया कि 'प्रयोजन' का ज्ञान लक्षणा से नहीं हो सकता । 'प्रयोजन' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'व्यञ्जना' को स्वीकार करना ही होगा । किन्तु 'विशिष्ट' में लक्षणा माननेवाला एक पक्ष अभी शेष है । 'विशिष्ट-लक्षणा' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तट' रूप लक्ष्यार्थबोध के साथ ही साथ 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन का भी बोध हो जाता है । अभिप्राय यह है कि 'लक्षणा' से केवल 'तट' का ही नहीं, अपितु 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन-विशिष्ट तट का बोध होता है । इसलिए उसके बोध के लिए 'लक्षणामूला व्यञ्जना' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । इस विशिष्ट लक्षणावादी का खण्डन मम्मटभट्ट ने १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका से किया है । इस अवसर पर विशिष्टलक्षणावादी के खण्डनार्थ ग्रन्थकार के द्वारा दी गई युक्ति का अभिप्राय यह है कि 'ज्ञान का विषय' तथा 'ज्ञान का फल'—ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं । उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता । 'लक्षणाजन्य ज्ञान' का विषय 'तट' है, और उसका 'फल' (प्रयोजन) शैत्य-पावनत्व आदि का बोध होना है । अतः इन दोनों को एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति कहनी होगी, क्योंकि 'विषय' और 'फल' में कार्य-कारणभाव हुआ करता है । 'ज्ञान का विषय' ज्ञान को पैदा करता है अर्थात् 'ज्ञान' का कारण होता है ।

और 'ज्ञान का फल' (प्रयोजन) 'ज्ञान' का 'कार्य' होता है। इसलिए उन दोनों (कार्य-कारण) की उत्पत्ति एक-काल (समकाल) में नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि 'ज्ञान का विषय' और 'ज्ञान का फल' दोनों अलग-अलग हैं। यह बात न्यायमीमांसादर्शन की प्रक्रिया से समझी जा सकती है। 'घट-पट' आदि विषयों का जो ज्ञान होता है, उसका विषय 'घट-पट' आदि होते हैं, और वे 'ज्ञानोत्पत्ति' के 'कारण' कहलाते हैं, इसलिए उनकी सत्ता ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व रहती है, इसमें किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। किन्तु 'ज्ञान' के 'फल' के विषय में न्याय और मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त अलग-अलग हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

'घट' या 'नील' आदि 'विषयों' (वस्तुओं) का ज्ञान, 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' से हो जाता है। अर्थात् 'विषय' (वस्तु) को देखते ही पहले उसका 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। किन्तु 'ज्ञान' का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ नैयायिकों ने 'अनुव्यवसाय' की कल्पना की है। 'अनुव्यवसाय' का अर्थ है 'ज्ञान का ज्ञान'। प्रथमतः 'घट' को देखने पर 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है। तदनन्तर 'घटज्ञानवान् अहम्' अथवा 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से 'अयं घटः' यह घट है—इस प्रकार का पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' (व्यवसाय) ज्ञान है। और तदनन्तर होनेवाला 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' मैं घट को जानता हूँ या मुझे घट का ज्ञान है—यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' है। 'अयं घटः' इस 'प्रथम ज्ञान' का विषय 'घट' है। और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस 'दूसरे ज्ञान' का विषय 'घटज्ञान' है। जैसे पहला 'व्यवसायात्मकज्ञान' अपने 'विषय घट' से पैदा होता है, उसी प्रकार 'दूसरा ज्ञान' अपने विषय 'व्यसायात्मक घटज्ञान' से उत्पन्न होता है। अत एव उसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। यह 'अनुव्यवसाय', 'व्यवसायात्मक घटज्ञान' का फल है। अर्थात् घटज्ञान के विषयरूप 'घट' से उस 'घटज्ञान' का फलरूप 'अनुव्यवसाय' भिन्न है। इसलिए 'विषय' तथा 'ज्ञान के फल' को अलग-अलग मानना होगा। अतः 'विषय' और 'फल' दोनों की समकालीन (एक ही काल में) उत्पत्ति नहीं मान सकते। यह न्यायदर्शन का सिद्धान्त है।

मीमांसकों का ज्ञातता-सिद्धान्त—

मीमांसकों का सिद्धान्त उपर्युक्त 'न्यायसिद्धान्त' से कुछ भिन्न है। क्योंकि नैयायिकों ने 'अयं घटः' इस प्रकार ज्ञान होने के बाद उससे 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस प्रकार 'अनुव्यवसायज्ञान' की उत्पत्ति मानी है।

किन्तु मीमांसक 'अनुव्यवसाय' के स्थान पर 'ज्ञातता' नामक 'धर्म' की उत्पत्ति

मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में 'घट' में रहनेवाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासित होता है। यह 'ज्ञातता' धर्म, 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान होने के पूर्व 'घट' में नहीं था। 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद ही वह 'ज्ञातता' धर्म उसमें आया है। इसलिए वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ है—यह मानना होगा। 'पूर्वज्ञान' ही उक्त 'धर्म' की उत्पत्ति में कारण है। 'कारण' के बिना कोई भी 'कार्य' उत्पन्न नहीं होता है। अतः 'ज्ञान' के बिना 'ज्ञातता' धर्म भी 'घट' में उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु 'ज्ञातता' धर्म 'घट' में उत्पन्न तो हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति में वह भास भी रहा है। अतः उसका कारण 'पूर्व ज्ञान' है—यह अवश्य ही मानना होगा। इस रीति से 'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति होने के कारण (अर्थापत्तिप्रमाण से) 'ज्ञातता' से ही ज्ञान का ग्रहण (ज्ञान) होता है—यह मीमांसादर्शन का सिद्धान्त है।

अनुव्यवसाय और ज्ञातता में अन्तर—

नैयायिकों के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) 'अनुव्यवसाय' से होता है, और मीमांसकों के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) 'ज्ञातता' से होता है। नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होता है, और मीमांसक की 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। तब उन दोनों के सिद्धान्तों में मौलिक भेद क्या है ? दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त क्यों माने जाँय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नैयायिकों का 'अनुव्यवसाय' 'आत्मा' में रहनेवाला (आत्मनिष्ठ) धर्म है, और मीमांसकों की 'ज्ञातता' 'घट-पट-नील' आदि विषयों में रहनेवाला (विषयनिष्ठ) धर्म है। इस भिन्नता के कारण इन दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त माने गये हैं।

प्रकृत प्रसंग में इसकी चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि जब यह स्वीकार हो चुका है कि 'ज्ञान' का 'विषय' और उसका 'फल'—पुण्यत्व, मनोहरत्व, शीतलत्व, पावनत्वादि भी अलग-अलग ही स्वीकार करने होंगे, किन्तु उनकी 'उत्पत्ति' को समानकालीन मानना उचित नहीं होगा। इसलिए 'विशिष्ट-लक्षणा' का कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(पूर्वपक्ष) ननु पावनत्वादीति। अच्छा, यदि यह कहें कि पावनत्वादि धर्म से समन्वित हुआ 'तट' ही लक्षणा के द्वारा उपस्थित किया जा रहा है, और 'गङ्गायास्तटे घोषः' गंगा के तट पर घोष है, इस 'प्रतीति' की अपेक्षा अधिक अर्थ (पावनत्वादि से विशिष्ट तट) की प्रतीति कराना ही 'लक्षणा' का प्रयोजन

(सू०२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

कुत इत्याह—

(लक्ष्यप्रयोजनयोर्भिन्नत्वम्)

(सू०२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषयः फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

है । अतः 'पावनत्वादिविशिष्ट' में लक्षणा हो सकती है । तब 'व्यञ्जना' को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य यह है कि विशिष्ट में लक्षणा मान लेने से ही यदि काम चल जाता है तो एक अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानना व्यर्थ है । इस प्रकार पूर्वपक्षी ने पूर्वपक्ष उपस्थित किया है । उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ सू० २८ कारिका १७ को उपस्थित किया जा रहा है—

(सू० २८) प्रयोजन के सहित अर्थात् 'शैत्य-पावनत्वादि-विशिष्ट' तीर को 'लक्ष्यार्थ' (लक्षणीय) कहना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

कुत इति । क्यों उचित नहीं है, उसे बताते हैं—

(सू० २९) क्योंकि ज्ञान का विषय 'घट-पट' आदि अलग हैं और 'ज्ञान' का फल (प्रयोजन) नैयायिक के मत से 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसक के मत से 'ज्ञातता' अलग बताया गया है । अभिप्राय यह है कि 'नैयायिक' तथा 'मीमांसक' दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का 'विषय' और उसका 'फल' दोनों भिन्न-भिन्न हैं । दोनों के मत में 'ज्ञान' का 'विषय' तो समान है, किन्तु 'फल' के विषय में मतभेद है ।

प्रत्यक्षादेरिति । प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न (जन्य) हुए ज्ञान का विषय 'घट-पट-नील' आदि हैं; किन्तु 'फल' मीमांसक के मत में 'ज्ञातता' (प्रकटता) और नैयायिक के मत में 'अनुव्यवसाय' (संवित्ति) है ।

विशेष विवरण—दोनों के ही मतों में 'ज्ञान' का विषय 'ज्ञान' के फल से भिन्न है । ज्ञान का कारण 'विषय' होता है । अतः उसकी अवस्थिति भी 'ज्ञान' के पूर्व रहती है । और 'फल' तो ज्ञान का कार्य है । अतः उसकी उत्पत्ति ज्ञान के बाद होती है । इसलिए 'लक्षणाजन्य ज्ञान' के विषय—'तटादि' और उसके फल—'पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि' अथवा 'शीतलत्व-पावनत्व आदि' की स्थिति भी अलग-अलग है । उन दोनों की 'समानकालीन उत्पत्ति' नहीं हो सकती । इसलिए 'प्रयोजन' के सहित 'तट' आदि को लक्ष्यार्थ कहना उचित नहीं है ।

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाभावः)

(सू०३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(लक्ष्यार्थानन्तरं प्रयोजनप्रतीतिः)

(सू०३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् । एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

(सू० ३०) इस प्रकार विशिष्ट में लक्षणा नहीं कह सकते ।

व्याख्यातमिति । इसकी व्याख्या सूत्र के शब्दों से ही (निगदेनैव) हो जाती है । अर्थात् इसका विवेचन कारिका के शब्दों से ही हो जाता है ।

(सू० ३१) किन्तु लक्षित अर्थ में 'विशेष' हो सकते हैं । अर्थात् 'विवक्षित धर्म' (गुण), 'लक्षित वस्तु' में 'लक्षणा से भिन्न व्यापार' के द्वारा प्रतीत होंगे । अभिप्राय यह है कि 'लक्षणा' से केवल 'तट' की उपस्थिति होने के बाद लक्षणा मूलक व्यञ्जना' से उस 'तटादिरूप' लक्ष्यार्थ (लक्ष्यवस्तु) में शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति हो सकती है ॥ १८ ॥

तटादाविति । 'तट' आदि लक्ष्यार्थ में जो पावनत्वादि विशेष (प्रयोजन रूप धर्म) प्रतीत होते हैं, वे 'अभिधा, तात्पर्या (अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट के द्वारा स्वीकृत) तथा लक्षणा से भिन्न व्यापार' के द्वारा प्रतीत होते हैं । अतः व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतनादि शब्द से कहे जाने वाले उस व्यञ्जनाव्यापार को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये । उसको स्वीकार किये बिना 'प्रयोजन' का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

एवमिति । इस प्रकार लक्षणामूला (लक्षणा पर अधिष्ठित) व्यञ्जना का विवेचन किया गया ।

अभिधामूलक व्यंजना का लक्षण—

विशेष विवरण—इस प्रकार से मीमांसकों के व्यंजनाविरोधी मत का खण्डन करके ग्रंथकार मम्मटभट्ट ने अभिधा, लक्षणा से पृथक् व्यञ्जनावृत्ति के स्वीकार करने की आवश्यकता का सिद्धान्त बताया और उसका अच्छी तरह उपपादन भी किया । उस व्यञ्जनावृत्ति के भी दो भेद हैं—एक 'शाब्दीव्यञ्जना' और दूसरी आर्थी-व्यञ्जना' । पुनः शाब्दी व्यञ्जना के भी 'अभिधामूला' तथा 'लक्षणामूला' व्यञ्जना ये दो भेद होते हैं । लक्षणा का निरूपण करते समय प्रसंगतः प्राप्त 'प्रयोजन

अभिधामूलत्वाह—

(अभिधामूलव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू०३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

बोध' के लिए 'व्यञ्जना' की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब लक्षणामूला-व्यञ्जना का निरूपण भी उसी के साथ ग्रन्थकार ने कर दिया। अब शाब्दी व्यञ्जना के द्वितीय भेद 'अभिधामूला व्यञ्जना' का निरूपण अगली कारिका के द्वारा किया जा रहा है।

अभिधामूलमिति । ग्रन्थकार अभिधावृत्ति पर अधिष्ठित व्यञ्जकत्व को बताते हैं—

(सू० ३२) 'संयोग-विप्रयोगादि' के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के 'वाचकत्व' का किसी 'एक अर्थ' में नियन्त्रण कर दिये जाने पर उससे भिन्न 'अवाच्य अर्थ' (अभिधावृत्ति से ज्ञात न होने वाले अर्थ) की प्रतीति कराने वाला जो शब्द व्यापार होता है, उसे 'व्यञ्जना' (अभिधामूला व्यञ्जना) कहते हैं ॥१९॥

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि जब 'अनेकार्थक शब्द' किसी एक अर्थ में 'संयोगादि' कारणों से नियन्त्रित हो जाते हैं, तब भी उनसे किसी 'अन्य अर्थ' की जो प्रतीति होती रहती है, वह प्रतीति 'जिस शब्द व्यापार' से होती है, उस 'शब्दव्यापार' को ही 'अभिधामूला व्यञ्जना' कहते हैं—यही 'अभिधामूला व्यञ्जना' का लक्षण है। अनेकार्थक शब्दों का किसी एक ही अर्थ में नियन्त्रण करने वाले 'संयोग, विप्रयोग' आदि के अभिप्राय को समझाने के लिए श्रीभर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ से दो कारिकाओं को उद्धृत कर रहे हैं।

श्रीभर्तृहरि की दो कारिकाओं का अर्थ—

अनेकार्थक शब्द के 'वाच्यार्थ' का निश्चय (निर्णय) न हो पाने पर 'विवक्षित (विशेष) अर्थ' का निर्णय अग्रिम १४ कारणों से किया जाता है—

संयोग इति । (१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्य शब्द की सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्गादि-

इत्युक्तदिशा ।

सशङ्खचक्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते । रामलक्ष्मणाविति दाशरथी । रामार्जुनौ तिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः । स्थाणुं भृज भवच्छिदे

विशिष्ट व्यक्ति और (१४) स्वर आदि अर्थात् उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर इत्यादि १४ कारण हैं ।

इत्युक्तदिशेति । भर्तृहरि के द्वारा दर्शित इस पद्धति से 'अग्रिम उदाहरणों' में **अनेकार्थक शब्दों** का किसी 'एक अर्थ' में 'संयोग आदि' के बल पर **नियन्त्रण** किया जा सकता है ।

उक्त चौदह कारणों में से प्रत्येक का उदाहरण देते हुए समझा रहे हैं । सबसे पहले **'संयोग'** और **'विप्रयोग'** के उदाहरण दे रहे हैं—

संयोग और विप्रयोग की नियन्त्रकता—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।
शुकाहिकपिमर्केषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥

पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त **'हरि'** शब्द—यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, मेढ़क का वाचक होता है । और पीत (कपिल) अर्थ में 'हरि' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग किया जा सकता है । इस कोश के अनुसार **'हरि'** शब्द अनेकार्थक है, परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्र के **संयोग** अथवा **विप्रयोग** को बताया जाय तो वहाँ पर 'हरि' शब्द **'विष्णु'** अर्थ का ही वाचक होगा । क्योंकि शंख-चक्र का **संयोग** तथा **विप्रयोग** उसी के साथ हो सकता है ।

सशंखचक्र इति । इसलिए **सशंखचक्रो हरिः**—शंख-चक्र के सहित हरि—यहाँ **'संयोग'** से और **अशंखचक्रो हरिः**—शंख-चक्र से रहित हरि—यहाँ **'विप्रयोग'** से यह 'हरि' शब्द **'अच्युत'**—विष्णु के अर्थ में ही नियन्त्रित होता है ।

साहचर्य और विरोध की नियन्त्रकता—

रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे ।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत् ॥

इसी कोश के अनुसार 'राम' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब **'लक्ष्मण'** के साथ **'रामलक्ष्मणौ'** इस रूप में **'राम'** शब्द का प्रयोग किया जाता है । तब **'साहचर्य'** के कारण उससे **'दशरथपुत्र राम'** का ही ग्रहण किया जाता है । किन्तु जब **'रामार्जुनौ'** इस प्रकार का प्रयोग होता है, तब **'परशुराम'** तथा **'कार्तवीर्य अर्जुन'** का विरोध रहने से **'विरोधिता'** के कारण उसका **'परशुराम'** अर्थ में **नियन्त्रण** हो जाता है ।

इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयि-

---

रामलक्ष्मणाविति। 'राम-लक्ष्मणौ' इस प्रयोग में 'साहचर्य' के कारण 'राम-लक्ष्मण' दोनों शब्दों का 'दशरथ के पुत्रों' में नियन्त्रण हो जाता है। और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस प्रयोग में 'राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों का 'विरोधिता' के कारण क्रमशः 'परशुराम' तथा 'कार्तवीर्य अर्जुन' के अर्थ में नियन्त्रण होता है।

अर्थ एवं प्रकरण की नियन्त्रकता—

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द के अनेक अर्थ कोश में बताये गये हैं—

स्थाणुर्नो ध्रुवः शंकुः स्थाणू रुद्र उमापतिः

'स्थाणु' शब्द के वृक्ष का ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा 'शिव' आदि अनेक अर्थ होते हैं।

किन्तु 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति। इसमें 'स्थाणु' का प्रयोग जब संसार से पार उतारने की प्रार्थना में किया जाय तो वह कार्य (अर्थ) केवल 'शिव' से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए उस दशा में 'अर्थ' (प्रयोजन) के कारण 'स्थाणु' शब्द 'शिव' के अर्थ में ही नियन्त्रित किया जाता है।

इसी प्रकार सर्वमिति। 'सर्वं जानाति देवः'-देव सब जानते हैं। यहाँ पर 'प्रकरण' से अनेकार्थक 'देव' शब्द का 'आप' अर्थ मे नियन्त्रण हो जाता है। यह नियंत्रण 'प्रकरण' के कारण हुआ है।

कुपित इति। 'कुपितो मकरध्वजः' यहाँ पर 'मकरध्वज' शब्द के समुद्र, ओषधि-विशेष, कामदेव आदि अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'मकरध्वज' कुपित हो रहा है यहाँ पर 'लिङ्ग' अर्थात् 'कोप' रूप चिह्न से 'मकरध्वज' शब्द को कामदेव के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'लिङ्ग' (चिह्न) के कारण हुआ है।

देवस्येति। 'देवस्य पुरारातेः'—पुरारि देव का। यहाँ पर अनेकार्थक 'देव' शब्द को 'पुरारारि' इस अन्य शब्द की 'सन्निधि' रहने से 'शंभु' अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। अतः यह नियंत्रण 'सन्निधि' के कारण हुआ है।

मधुनेति। 'मधुना मत्तः कोकिलः'-कोकिल मधु से मत्त हो रही है। यहाँ पर कोकिल को उन्मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसंत में होने से 'मधु' शब्द को वसंत के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' को देखकर किया गया है। अर्थात् यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' के कारण हुआ है।

पातेति। 'पातु वो दयिता मुखम्'-पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे। यहाँ

तामुखमिति साम्मुख्ये । भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि । चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ । मित्रं भातीति सुहृदि । मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् ।

पर अनेकार्थक 'मुख' शब्द को 'औचित्य' के कारण आनुकूल्य (साम्मुख्य) अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'औचिती' (औचित्य) के कारण हुआ है ।

भातीति । 'भात्यत्र परमेश्वरः'–यहाँ परमेश्वर सुशोभित होते हैं। यहाँ पर अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द को राजधानी रूप 'देश' के कारण 'राजा' अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'देश' के कारण हुआ है।

चित्रभानुरिति । 'चित्रभानुर्विभाति'–चित्रभानु चमक रहा है। यहाँ पर अनेकार्थक 'चित्रभानु' शब्द दिन में 'सूर्य' के अर्थ में और रात्रि में 'अग्नि' के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'काल' के कारण हुआ है ।

मित्रमिति । 'मित्रम्भाति' – मित्र सुशोभित होता है। यहाँ पर अनेकार्थक 'मित्र' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसका नियन्त्रण 'सुहृत्' अर्थ में होता है। किन्तु 'मित्रो भाति' – इस प्रकार जब 'मित्र' शब्द का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया जाता है, तब उसका नियन्त्रण 'सूर्य' अर्थ में किया जाता है। यह नियन्त्रण 'व्यक्ति' – लिङ्ग के कारण हुआ है।

श्रीभर्तृहरि ने ऊपर प्रदर्शित की गई दो कारिकाओं में अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले संयोग, विप्रयोग आदि चौदह कारण बताये हैं। उनमें से अभी तक तेरह के उदाहरण दिखाये गये हैं। चौदहवाँ हेतु (कारण) 'स्वर' कहा गया है। उसे उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरभेद से वेद में ही अर्थ-भेद का नियामक माना गया है, काव्य में नहीं। इसलिए अन्य उदाहरणों के साथ उसे नहीं दिखाया गया।

इन्द्रशत्रुरिति । इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ने कहा है कि, 'इन्द्रशत्रुः' इसमें स्वर-विशेष के द्वारा अर्थ-विशेष का ज्ञान जो होता है वह वेद में ही होता है, काव्य में नहीं। इसीलिए स्वर सम्बन्धि लौकिक उदाहरण नहीं बताया गया।

विशेष विवरण—ग्रंथकार ने 'इन्द्रशत्रुः' इस वैदिक प्रयोग में स्वर-भेद से अर्थ-भेद कैसे होता है ? उसे बताने के लिए व्याकरण के महाभाष्य से यहाँ उद्धृत किया है। महाभाष्यकार ने व्याकरण के अध्ययन के चौदह मुख्य प्रयोजन बताये हैं। उनमें से 'दोष-दूषित शब्द का प्रयोग न करना' भी एक प्रयोजन बताया है। महाभाष्यकार कहते हैं—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' ॥

यहाँ पर 'इन्द्रशत्रुः' पद से सम्बन्धित घटना का संकेत जो किया गया है उसका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय कांड के पंचम प्रपाठक में इस प्रकार किया गया है—

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप असुरों का भांजा भी था और देवताओं का पुरोहित भी था। अतः वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं का कार्य करता था किंतु परोक्ष रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। यह जानकर इन्द्र को बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने की इच्छा से एक यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि, 'इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। यहाँ पर 'शत्रु' शब्द 'शातयिता' मारनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता = इन्द्रशत्रुः' अर्थात् इन्द्र को मारनेवाला—इस अर्थ में 'षष्ठीतत्पुरुष' समास हो सकता है। और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य सः = इन्द्रशत्रुः' इन्द्र जिसका मारनेवाला है—इस विग्रह में 'बहुव्रीहि' समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। 'षष्ठीतत्पुरुष' समास करने पर 'इन्द्र को मारनेवाले पुत्र की वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और 'बहुव्रीहि' समास में 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो—यह अर्थ हो जाता है। इन दो समासों में से 'षष्ठीतत्पुरुष' समासवाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस 'षष्ठीतत्पुरुष' समास में 'अन्तोदात्त' स्वर का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द को 'आद्युदात्त' स्वर से उच्चारण किया यह 'आद्युदात्त' स्वर 'बहुव्रीहि' समास में होता है। इस स्वर के कारण अर्थ ही उलटा हो गया। इस प्रकार 'अन्तोदात्त' और 'आद्युदात्त' स्वर के भेद से अनेकार्थक 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में नियन्त्रण वेद में ही हुआ है।

आदिग्रहणादिति। कारिका में कहे गये 'स्वरादयः' में 'आदि' पद के ग्रहण करने से अभिनयादिकृत संकेत भी नियन्त्रक होते हैं। जैसे—

एद्दहमिति (एतावदिति)। इतने बड़े स्तनों वाली, और इतनी बड़ी आँखों वाली तरुणी, इतने दिनों में, इतनी अवस्था की, हो गई ॥ ११ ॥

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥)

इत्यादावभिनयादयः ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद् अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

इत्यादाविति । इस पद्य में अभिनय आदि ने भी एक अर्थ में नियन्त्रण कर दिया है । अर्थात् अभिनयादि भी विशेष स्मरण कराने में कारण होते हैं ।

विशेष विवरण—बुद्धिस्थित तत्तदर्थों के प्रतिपादन में शक्त रहनेवाले नानार्थक 'एतत्' आदि शब्दों की वाचकता 'अभिनय' के द्वारा स्तनादिगत परिमाण-विशेष रूप अर्थ में नियमित की गई है । 'आमलक मुकुलादि आकार' के अभिनय से स्तनप्रदर्शन, इसी प्रकार 'पद्मपलाशादि के आकार' के अभिनय से अक्षिप्रदर्शन, उच्चता पुष्टि आदि का प्रदर्शन करने के अभिनय से अवस्था का प्रदर्शन, 'अंगुल्यग्रधारणादि' के अभिनय से दिवस प्रदर्शन किया गया है । 'हस्तादि क्रिया के द्वारा नायिका आदि की अवस्था' के अनुकरण करने को 'अभिनय' कहते हैं । अथवा 'आकारादि प्रदर्शक हस्तादि चेष्टा' को 'अभिनय' कहते हैं । 'अभिनयादयः' में जो 'आदि' शब्द दिया गया है, उससे 'अपदेश' का ग्रहण करना चाहिये । 'हृदय आदि पर रखे हुए हस्तादि' के द्वारा अपने अभिमत (अभीष्ट) के निर्देश करने को 'अपदेश' कहते हैं । वह भी अभिधा का नियामक होता है । जैसे—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ (कु० सं० २।५५)

इस पद्य में नानार्थक 'इतः' शब्द बुद्धि-स्थित अर्थ का परामर्शक होने से उसका वाचकत्व, हृदयनिहित हस्तरूप 'अपदेश' के द्वारा 'वक्ता' में नियमित किया गया है । 'अपदेश' में अनुकरण न होने से, उसको 'अभिनय' नहीं कहा जा सकता ।

इत्थमिति । इस प्रकार संयोग विप्रयोग आदि के द्वारा अर्थान्तर के बोध-कत्व का निरसन हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्द, जो कहीं अर्थान्तर को बताता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका नियन्त्रण (नियमन) हो चुका है । और मुख्यार्थबाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है । किन्तु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार ही हो सकता है ।

यथेति । जैसे—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥ १२ ॥

भद्रात्मन इति । सुन्दर आकृतिवाले, दूसरों से अपराजेय शरीर वाले, उच्चकुल में पैदा हुए, जिसने बाणों का संग्रह अथवा अभ्यास किया है, जिसकी गति (ज्ञान) अनुपप्लुत अर्थात् अबाधित है और जो पर अर्थात् शत्रुओं का निवारण करने वाला है उस राजा का हाथ (कर) हाथी के सूँड़ के समान सर्वदा दान के (मदके) संकल्प बोलकर छोड़े जाने वाले जल से सुन्दर रहता था ॥ १२ ॥

विशेष विवरण—उक्त श्लोक में किसी राजा की प्रशंसा की जा रही है । अतः उक्त पद्य में जितने 'अनेकार्थक शब्द' हैं, उन सबका 'प्रकरण' को देखते हुए 'एक ही अर्थ' में नियन्त्रण हो जाता है । तथापि उक्त पद्य से 'गज (हाथी) परक' दूसरे अर्थ और उसके साथ 'उपमान-उपमेय-भाव' की भी प्रतीति होती है । 'राजा' के समस्त विशेषण 'हाथी' के पक्ष में भी लगते हैं । अतः यह 'दूसरी प्रतीति' जो हो रही है, 'अभिधामूलक व्यञ्जना' से ही होती है, उसे बताने के लिए ही यह उदाहरण दिया गया है ।

गज पक्ष में उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—भद्र जाति वाले, जिसकी पीठ पर चढ़ने में कठिनाई होती है, अर्थात् बहुत ऊँचे, जिसकी पीठ की हड्डी (वंश) बहुत विशाल और उन्नत है, जिसकी गति धीर (अनुपप्लुत) है, और जिसने अपने मद-जल के कारण बहुत-से भ्रमरों का संग्रह कर रखा है, ऐसे उत्तम हाथी (परवारण) की सूँड़ (करके समान राजा का हाथ) मदजल के बहने से सर्वदा सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

विशेष विवरण—उक्त पद्य में प्राकरणिक अर्थ 'राजा' के पक्ष में है, और अप्राकरणिक अर्थ 'गज' के पक्ष में है । क्योंकि 'राजा' वाच्य है और 'गज'—हस्ती, प्रतीयमान है । यहाँ पर अनेकार्थक 'भद्रात्मनः' इत्यादि शब्दों की 'अभिधा' का राजा में और तदन्वय योग्य अर्थ में 'प्रकरण' के द्वारा नियन्त्रण किये जाने पर भी सहृदयों को वासना वशात् (प्रतिभा के बल पर) 'गज' की और 'तदन्वय योग्य अर्थ' की जो प्रतीति होती है, वह 'व्यञ्जना' से ही होती है ।

यद्यपि द्वितीय अर्थ तात्पर्य का विषय है, तथापि 'तात्पर्यग्राहक-प्रकरण' आदि के न होने से उसे 'व्यङ्ग्यबोध का ही विषय' समझना चाहिए । यहाँ पर उक्त 'विशेषण-विशिष्ट गज' की प्रतीति में 'राजा' और 'गज' के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध अवगत होता है उसमें उपमानोपमेयभाव भी व्यंग्य हो रहा है । अन्यथा परस्पर असम्बद्ध अर्थद्वय का बोधक होने से वाक्यभेद मानना होगा ।

(व्यञ्जकशब्दलक्षणम्)

(सू० ३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

(शब्दस्य व्यञ्जकत्वे अर्थस्य सहकारित्वम्)

(सू० ३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ॥ २ ॥

शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ का सहयोग—

इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदों का निरूपण करने के पश्चात् उसमें अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन ग्रंथकार कर रहे हैं—

(सू० ३३) उस व्यञ्जनाव्यापार से युक्त शब्द को 'व्यञ्जक शब्द' कहते हैं।

तद्युक्त इति । उस से युक्त अर्थात् व्यञ्जना व्यापार से युक्त ।

(सू० ३४) क्योंकि वह व्यञ्जक शब्द दूसरे अर्थ के योग से अर्थात् अपने मुख्यार्थ का बोधन करने के पश्चात् उस प्रकार के दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इसलिए उसके साथ सहकारी के रूप में (अप्रधान रूप से) अर्थ भी व्यञ्जक होता है ॥ २० ॥

तथेति । सूत्रगत 'तथा' का अर्थ 'व्यञ्जक' किया गया है ।

विशेष विवरण—'भद्रात्मन' इस उदाहरण में केवल 'शब्द' की व्यञ्जकता रहने पर भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की व्यञ्जकता न रहने से काव्य में 'ध्वनि' का व्यवहार कैसे हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने दिया है—

—"यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ।"

सहकारी होने से 'अर्थ' भी व्यञ्जक माना जाता है। शब्द में परिवृत्ति (परिवर्तन) सहिष्णुता न रहने से इस व्यञ्जना को शब्दमूलक व्यञ्जना कहते हैं। 'अर्थोऽपि' यहाँ 'अपि' शब्द से 'शब्द' का भी समुच्चय किया गया है। सूत्रस्थित 'तथा' शब्द का अर्थ है 'व्यञ्जक' ।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के शब्द और अर्थ के स्वरूप-निरूपण नाम का द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ।

तृतीय उल्लासः

(पूर्वोत्तरसमन्वयः)

(सू० ३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः । तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम् ।

(सू० ३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

(अर्थनिष्ठव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू० ३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥

(द्वितीय और तृतीय उल्लास की संगति)

द्वितीय उल्लास में ग्रन्थकार ने 'शब्द' तथा 'अर्थ' के स्वरूप का निर्णय करते हुए 'वाचक' 'लक्षक' और 'व्यञ्जक' तीन प्रकार के शब्दों का तथा 'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया था । 'लाक्षणिक' शब्द निरूपण के प्रसङ्ग में 'प्रयोजन' की प्रतीति होने के लिए 'व्यञ्जनावृत्ति' की अत्यन्त आवश्यकता बताई थी । वह 'व्यञ्जनाशक्ति' भी 'शाब्दी व्यञ्जना' और 'आर्थी व्यञ्जना' के भेद से दो प्रकार की होती है । उक्त 'शाब्दी व्यञ्जना' के भी 'अभिधामूला व्यञ्जना' और 'लक्षणामूला व्यञ्जना' नाम के दो भेद होते हैं । 'शाब्दी व्यञ्जना' के दोनों भेदों का प्रतिपादन द्वितीय उल्लास में कर दिया गया है ।

अब इस तृतीय उल्लास में 'आर्थी व्यञ्जना' के समस्त भेदों के उदाहरणों का निरूपण किया जा रहा है । इस उल्लास के आरम्भ में पूर्वोक्त विषयों का स्मरण दिलाकर 'आर्थी व्यञ्जना' का निरूपण किया जा रहा है ।

(सू० ३५) अर्थों का वर्णन पूर्व ('वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः' सू० ६ में) किया जा चुका है ।

अर्था इति । उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के अर्थ—'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के बताये गये थे ।

(सू० ३६) 'उनकी अर्थव्यञ्जकता' (अर्थात् उन अर्थों पर आश्रित आर्थी व्यञ्जना) का वर्णन अब कर रहे हैं ।

आर्थी व्यञ्जना के भेद—

कीदृशीति । वह 'आर्थी व्यञ्जना' कैसी होती है ? उसे बताते हैं—

(सू० ३७) १. वक्ता, २. बोद्धा (बोद्धव्य), ३. काकु, ४. वाक्य,

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः ।

क्रमेणोदाहरति—

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥
(अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि ! त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥)

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

---

५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. अन्यविध आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली सहृदयों को अर्थान्तर (अन्य अर्थ) की प्रतीति कराने वाला 'अर्थ' का जो व्यापार होता है उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं ॥ २२ ॥

बोद्धव्य इति । 'बोद्धव्य' का अर्थ प्रतिपाद्य है, अर्थात् जिससे बात कही जाय वह है । 'काकु' ध्वनि के विकार को कहते हैं । 'काकु' का लक्षण भी इसी प्रकार किया गया है कि, 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' । 'प्रस्ताव' का अर्थ प्रकरण है । अर्थ का यानी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थ का व्यापार 'आर्थी व्यञ्जना' के नाम से कहा जाता है ॥२२॥

विशेष विवरण—इस आर्थी व्यञ्जकता को भी 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानाम् ०'—सू० ७ पर बता चुके हैं । इसलिए यहाँ पर 'कीदृशी' कहकर उसका स्वरूप पूछा जा रहा है । अर्थात् जैसे 'शब्दव्यञ्जना' का स्वरूप 'नियन्त्रितार्थबोधनकत्व' है, वैसे ही इस 'अर्थव्यञ्जकता' का कोई स्वरूप बताना चाहिये । इसलिए सू० ३७ वक्तृबोद्धव्य० इत्यादि से बताया गया है । एवं च 'वक्त्रादिवैलक्षण्यहेतुका, या प्रतिभाशालिनामन्यार्थधीः तद्धेतुव्यापारत्वम्'—ही अर्थव्यञ्जकता का स्वरूप है, ऐसा उद्योतकार ने कहा है ।

क्रमेणेति । 'आर्थीव्यञ्जना' के दसों प्रकार के उदाहरण क्रम से दे रहे हैं ।

(१) **वक्ता की उक्ति के वैशिष्ट्य में (वक्तृवैशिष्ट्य के कारण) व्यञ्जना**—

अइपिहुलमिति (अतिपृथुलमिति) । हे सखि ! मैं पानी से (जल से) भरे हुए बहुत बड़े घड़े को लेकर बड़ी तेजी से चली आ रही हूँ । परिश्रम के कारण निःश्वास और पसीने से परेशान हो गई हूँ, इसलिए थोड़ी देर यहाँ बैठकर सुस्ताऊँगी ॥ १३ ॥

अत्रेति । उक्त पद्य में वक्ता के (वक्ता की उक्ति के) वैशिष्ट्य के कारण चौर्य-रत (गुप्त संयोग) छिपाने की प्रतीति होती है ॥१३॥

ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥ १४ ॥
(औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥)

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक के पास गई और उसके साथ संभोग करके आ रही है। छिपकर किये गये संभोग के चिन्ह पसीना आदि उसके मुख पर स्पष्टरूप से झलक रहे हैं। उन चिन्हों को देखकर कदाचित् यह मेरी सखी, चोरी से किये गये मेरे संभोग की शंका न करे, इसलिए वह कहने वाली स्त्री संभाव्यमान शंका के निवारणार्थ पहले ही स्वयं कह दे रही है कि पानी से भरा हुआ घड़ा लेकर और जल्दी-जल्दी चलकर आने से यह पसीना, सांस फूलना आदि ये सब कष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार वह अपने चौर्य रति को छिपाने का प्रयत्न कर रही है। यह बात वक्ता के उक्ति-वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्य है। यहाँ शब्द में परिवृत्तिसहत्व होने से अर्थ का ही व्यापार (वृत्ति) है ॥ १३ ॥

(२) बोद्धा (बोद्धव्य) के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

ओण्णिद्दमिति (औन्निद्र्यमिति)। हे सखि, मुझ मंदभागिनी के कारण नींद का न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं, यह बड़े दुःख की बात है ॥ १४ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'दूती का' उस नायिका के कामुक के साथ 'उपभोग व्यंग्य' है। यह 'आर्थी व्यञ्जना' का उदाहरण है।

(३) काकु के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

'आर्थी व्यञ्जना' में 'वक्ता' तथा 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के दो उदाहरण बताने के बाद अब 'काकु' के द्वारा आर्थी व्यञ्जना का तीसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

विशेष विवरण—'काकु' शब्द का अर्थ है 'विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि'। अर्थात् एक विशेष प्रकार का बातचीत का लहजा। बोलने के इस विशेष लहजे से (ढंग से) भी अर्थ की व्यञ्जना होती है। उसे बताने के लिए नारायणभट्टकृत 'वेणीसंहार' नाटक के प्रथम अंक में से 'भीमसेन' की उक्ति को उदाहरण के रूप में दिया गया है। 'भीमसेन' और 'सहदेव' के संवाद का प्रसंग है। 'भीमसेन' के क्रोध को देखकर 'सहदेव' उनसे (भीमसेन से) कहते हैं कि आप के इस प्रकार के व्यापार को (विचार को) सुनकर 'कदाचित् खिद्यते गुरुः' शायद गुरु (युधिष्ठिर) नाराज

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ १५ ॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते । न च वाच्यसिद्धयङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं, प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

हो जायेगें । उसके उत्तर में 'भीमसेन' कह रहे हैं कि 'गुरुः खेदमपि जानाति' अच्छा 'गुरु' (युधिष्ठिर) नाराज होना भी जानते हैं ?

तथाभूतामिति । उस राज-सभा में 'पाञ्चाली' (द्रौपदी) की उस प्रकार की (केश तथा वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर दीर्घ काल तक (बारह वर्ष तक) व्याधों (बहेलियों) के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिप कर (अज्ञात रूप में) जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है, पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर वे नाराज होते हैं ॥१५॥

अत्रेति । यहाँ पर मेरे ऊपर क्रोध करना (नाराज होना) उचित नहीं है । कौरवों पर नाराज होना उचित है । यह अभिप्राय **'काकु'** के द्वारा प्रकाशित हो रहा ॥१५॥

'काकु' से आक्षिप्त अर्थ की ध्वनि-रूपता में शंका-समाधान

विशेष विवरण—शंका—ग्रंथकार ने इस ग्रन्थ के पंचम उल्लास में 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' काव्य के आठ भेदों को बताया है । उनमें 'वाच्यसिध्यङ्गव्यङ्ग्य' और 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नाम से 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' के दो भेद गिनाये गये हैं । वहाँ भी 'वेणीसंहार नाटक' से उद्धृत की गई भीमसेन की इसी प्रकार की निम्नलिखित उक्ति को 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' के उदाहरण में प्रस्तुत किया है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

यदि तुम्हारे राजा (युधिष्ठिर) किसी शर्त पर 'कौरवों' से संन्धि कर भी लें, तो क्या मैं 'सौ कौरवों' का युद्ध में क्रुद्ध होकर नाश नहीं करूँगा ? अथवा 'दुःशासन' की छाती का रुधिर (खून) क्या नहीं पीऊँगा ? अथवा 'सुयोधन' की जङ्घाओं को गदा से क्या नहीं तोड़ूंगा ?

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहंतेअ कवोला ण सा दिट्ठि ॥ १६ ॥

(तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥)

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।

इस पद्य का उपर्युक्त अर्थ 'वाच्यार्थ' है । परन्तु 'भोम' के बोलने के ढंग से अर्थात् 'काकु' के द्वारा यह प्रकट हो रहा है कि 'युधिष्ठिर' भले ही उनसे सन्धि कर लें किन्तु 'मैं' तो अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करके ही रहूँगा । यहाँ पर यह 'प्रतीत होने वाला अर्थ' 'काकु' से आक्षिप्त होने के कारण इस पद्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' माना गया है । 'तथाभूताम्' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकार का है । अतः इसे भी 'काक्वाक्षिप्त' होने से अथवा 'वाक्यसिद्धि का अंग' होने से 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' मानना ही उचित है । तब इसे 'ध्वनि काव्य' के उदाहरण रूप में कैसे दिया जा रहा है ?

न चेति । समाधान—यहाँ पर 'काकु' (से लभ्य अर्थ) 'वाच्य की सिद्धि' में अंग है, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) है, (ध्वनि काव्य नहीं है)—यह 'शंका' नहीं करनी चाहिए । क्योंकि 'प्रश्नमात्र' से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है । अर्थात् यहाँ 'काकु' केवल प्रश्नमात्र में ही विश्रान्त हो जाता है । उससे 'व्यङ्ग्य' आक्षिप्त नहीं हो रहा है ।

(४) वाक्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

तइ आ इति (तदा ममेति) । उस समय मेरे कपोल (गाल) पर गड़ाई हुई (अपनी) दृष्टि को कहीं और (अन्यत्र) नहीं ले जा रहे थे । किन्तु अब मैं भी वही हूँ, मेरे गाल भी वे ही हैं, किन्तु तुम्हारी (मेरे गाल पर ही टिकी रहने वाली) दृष्टि वैसी नहीं है ॥ १६ ॥

अत्रेति । यहाँ मेरे गाल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी, उसके चले जाने पर कुछ और ही हो गई है । इसलिए तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता पर आश्चर्य हो रहा है—यह अर्थ नायिका के वाक्य से प्रकट होता है ।

(५) वाच्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण —

उद्देशोऽयमिति । हे तन्वि ! (हे कृशोदरि) (इस विशेषण से नायिका की

किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥ १७ ॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥ १८ ॥

मदन-वेदना-ग्रस्तता सूचित होती है) सरस हरी-हरी कदली (केले) के वृक्षों की कतार से अत्यन्त सुशोभित (मनोहर) प्रतीत होने वाला और कुञ्जों के उत्कर्ष के कारण सुन्दरियों के हाव-भावों को अङ्कुरित कर देने वाला यह नर्मदा का ऊँचा प्रदेश (स्थान) है । अभिप्राय यह है कि केवल यह सामान्य नदी नहीं है, अपितु 'नर्म=रतिसुखम् ददाति इति नर्मदा' जो असाधारण रतिक्रीड़ा के सुख को देने वाली है उसी का यह ऊँचा प्रदेश है । और यहाँ 'सुरत' के मित्र (पुनः-पुनः सुरत-क्रीड़ा के लिए उत्तेजना देने वाले) वे पवन बहते हैं, जिसके आगे-आगे (वसन्तादि ऋतु का) अवसर न होने पर भी धनुष धारण किये हुए अत्यन्त उग्र रूप में उत्तेजना देने वाला कामदेव चलता रहता है ॥ १७ ॥

अत्रेति । यहाँ 'सुरत-क्रीडा' के लिए कुञ्ज के भीतर प्रवेश करो (चलो) । यह अर्थ नायक के उक्तिवैशिष्ट्य से अभिव्यञ्जित होता है ॥ १७ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'नर्मदा' के उन्नत प्रदेश (स्थानविशेष) तथा उसके विशेषणीभूत वायु; कुंज आदि 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति 'वाच्य के वैशिष्ट्य' से होती है । इसलिए यह 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण है ।

वाक्य और वाच्यवैशिष्ट्य में भेद—

'वक्ता' और 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के कारण जैसे 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद होते हैं उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य' के वैशिष्ट्य के कारण होने वाले भेद से भी 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद माने जाते हैं । किन्तु दोनों भेदों का एक ही उदाहरण बन सकता है । उनमें केवल प्राधान्य-अप्राधान्य की विवक्षा से ही अन्तर हो जाता है । जब 'वक्ता' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'वक्तृ-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जब 'बोद्धा' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'बोद्धव्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । उसी प्रकार जहाँ 'वाक्य' की प्रधानता विवक्षित हो वहाँ वही पद्य 'वाक्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थ का प्राधान्य विवक्षित रहता है वहाँ वही 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । यह भेद केवल विवक्षा के अधीन है ।

(६) अन्य-सन्निधि के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

णोल्लेइ इति (नुदतीति) । निर्दय (अनार्द्रमनाः) सास घर के सम्पूर्ण कार्य

(नुदत्यनार्द्रमनाः　श्वश्रूर्मां　गृहभरे　सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ।।)

अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वह समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमे अ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ।। १९ ।।

(श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम् ।।)

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

मुझसे ही कराती है, इसलिए समय कभी मिलता भी है तो सायंकाल के समय क्षण-मात्र (थोड़ा बहुत) विश्राम मिल जाता है, और कभी वह भी नहीं मिलता है ।।१८।।

अत्रेति । यहाँ सायंकाल का समय 'संकेत काल' है—यह बात (गुरुजनों की सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण दूत आदि किसी) तटस्थ के प्रति किसी (नायिका) के द्वारा प्रकट की जा रही है ।। १८ ।।

विशेष विवरण—यहाँ अन्य लोगों के समीप रहने के कारण स्पष्ट रूप से संकेत काल आदि के सम्बन्ध में बात करना सम्भव नहीं है । अतः इस प्रकार से तटस्थ दूत आदि से 'संध्या के समय मिलने का अवसर निकल सकता है'—यह बात सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जना से सूचित की गई है ।

(७) प्रकरणरूप प्रस्ताव के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का (वाच्यार्थ को व्यञ्जकता का) उदाहरण—

सुव्वह इति (श्रूयते इति) । हे सखि, सुना जाता है कि, तुम्हारे प्रिय पति आज एक प्रहर के भीतर ही आवेंगे, तो तू योंही क्यों बैठी है, उनके लिए खाने पीने की व्यवस्था अथवा अपने शृङ्गार आदि करने योग्य कार्यों की तयारी कर ।। १९ ।।

अत्रेति । यहाँ उपपति के पास जाने के लिए उद्यत हुई किसी अभिसारिका को उसकी सखी मना कर रही है, कि अब यह अभिसार करना इस समय उचित नहीं है ।। १९ ।।

विशेष विवरण—यहाँ पर 'अद्यैव' से सूचित किया है कि 'कालान्तर' से नहीं । 'प्रहरमात्रेण' से बताया है कि 'विलम्ब' से नहीं । 'समागमिष्यति' से सूचित किया है कि 'अपना काम पूरी तरह सम्पन्न करने के कारण पुनः उसे कहीं जाना नहीं है' इस प्रकार अभिसरणोपयोगि-वेषविन्यासादि के प्रसंग में उस रहस्य को जाननेवाली उसकी सखी पति के आगमन की सूचना देकर उसके अभिसरण का निषेध कर रही है । प्रसंग जाननेवाले सामाजिक इस व्यंग्यार्थ को समझ जाते हैं ।। १९ ।।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥ २० ॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ॥

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥ २१ ॥

गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥

---

(८) देश के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना (वाच्यार्थ की व्यंजकता) का उदाहरण— सखीवेषधारी स्वामी के साथ आई हुई अपनी सहचरी को देखकर अन्य सखियों के प्रति नायिका की यह उक्ति है—

अन्यत्रेति । हे सखियों तुम कहीं अन्यत्र जाकर फूल तोड़ो, और यहाँ मैं तोड़ रही हूँ । मैं दूर तक चलने में समर्थ नहीं हूँ । इसलिए तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, मुझ पर कृपा करो, अर्थात् आप और कहीं जाकर अपना काम करो । यहाँ मुझे अपना काम करने दो ॥ २० ॥

अत्रेति । यहाँ यह एकान्त स्थान है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक को तुम यहाँ भेज दो—यह बात अपनी किसी विश्वस्त सखी से कोई कह रही है ॥ २० ॥

विशेष विवरण—सखियों के अन्यत्र चले जाने से यह स्थान (देश) एकान्त का है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक (सखी-वेषधारी कामुक) को तुम प्रेरित करो—इस प्रकार विश्वासपात्र प्रिय सखी के प्रति देश-वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जित किया जा रहा है । यहाँ पर 'वाच्यार्थ' तो सामान्य सखियों को विषय कर रहा है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रिय सखी को विषय कर रहा है । यहाँ पर 'कुसुमावचाय' को उद्देश्य कर अन्यदेशाधिकरणकत्व की विधेयता होने से प्रधानता है । अतः 'देश वैलक्षण्य' से ही व्यञ्जकत्व है । और पूर्व निर्दिष्ट 'उद्देशोऽयम्' (श्लो० १७) उदाहरण में 'देश' की विशेषणता होने से अप्रधानता थी, इसलिए प्रधानीभूत वाच्य की ही विलक्षणता होने से उसी में व्यञ्जकत्व माना गया था । यही दोनों में भिन्नता है ॥ २० ॥

(९) काल के वैशिष्ट्य में वाच्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण—

गुरुअणेति (गुरुजनेति) । गुरुजनों के परवश रहने वाले हे प्रिय ! मैं मन्दभागिनी तुम से क्या कहूँ (वास्तव में तो न 'तुम' जाना चाहते हो और न 'मैं' भेजना चाहती हूँ । परन्तु माता-पिता आदि गुरुजनों के आदेश के कारण) आज

अत्राद्य वसुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तत्र तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥ २२ ॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

(इस वसन्त ऋतु के समय में) यदि जा रहे हो तो जाओ, (आगे) क्या करना चाहिए यह बात (मेरी मृत्यु के बाद) तुम स्वयं सुन लोगे ॥ २१ ॥

अत्रेति । यहाँ आज 'वसंत' के समय यदि तुम जा रहे हो तो जाओ, मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, और तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती—यह अभिव्यक्त हो रहा है ॥ २१ ॥

(१०) 'आदि' पद से ग्राह्य 'चेष्टा' का व्यञ्जकत्व—

आदीति । कारिका में दिये गये 'आदि' पद के ग्रहण से 'चेष्टा' आदि का ग्रहण करना चाहिये । उनमें से 'चेष्टा' के वैशिष्ट्य में व्यञ्जकत्व का उदाहरण—

द्वारोपान्तेति । दरवाजे के समीप मेरे पहुँचने पर उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों ऊरुओं को फैलाकर फिर एक दूसरे से चिपका लिया, सिर पर घूँघट काढ़ लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाओं को सिकोड़ लिया ॥ २२ ॥

अत्रेति । यहाँ चेष्टा से प्रच्छन्न कान्त-विषयक अभिप्राय-विशेष व्यंग्य है ॥ २२ ॥

निराकांक्षेति । निराकांक्षता (जिज्ञासा की निवृत्ति) के लिए और प्रसङ्ग प्राप्त होने से सब भेदों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं । वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से मिलकर भी इनके उदाहरण हो सकते हैं ।

अनेनेति । इसी क्रम से लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरणों को भी समझना चाहिये ।

(शब्दस्यापि सहकारितया व्यञ्जकत्वम्)

(सू० ३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम
तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग—

शाब्दी व्यञ्जना के निरूपण के अन्त में यह कहा गया था कि उसमें (शाब्दी व्यञ्जना में) 'शब्द' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'अर्थ' उसका सहकारी होता है । उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में 'अर्थ' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'शब्द' उसका सहकारी होता है, इसी बात को ग्रन्थकार बता रहे हैं ।

(सू० ३८) क्योंकि शब्द-प्रमाण से गम्य होने वाला 'अर्थ' ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है । इसलिए उसके (अर्थ के) व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है ॥ २३ ॥

शब्देति । **'शब्द-प्रमाण'** से गम्य हुआ अर्थ, **'अर्थान्तर'** को व्यक्त करता है—इस कथन से यह सूचित किया जा रहा है कि **'अनुमानादि अन्य प्रमाणों' से वेद्य अर्थ, 'व्यञ्जक' नहीं होता है ॥ २३ ॥**

इस **'तृतीय उल्लास'** में **'वक्ता बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य'** से **'आर्थी व्यञ्जना'** के दस भेद और उनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये । इसके पूर्व **'द्वितीय उल्लास'** में **'शाब्दी व्यञ्जना'** का निरूपण किया गया था । अतः 'व्यञ्जना के दोनों भेदों' के विवेचन के साथ **'ध्वनि-काव्य'** का सामान्य निरूपण समाप्त हुआ है । इसके आगे चतुर्थ उल्लास में **'ध्वनि-काव्य'** तथा **'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य'** का निर्वचन किया जायगा ।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में अर्थव्यञ्जकता-
निर्णयनामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात् ।

यथामरुककविपद्ये—

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥'

अत्रोत्थाय किंचिच्छनैरित्यत्र सवर्णझय्द्वयसंयोगस्तत्रापि नैकट्येनेति सुतरामश्रव्यः । एवं झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्यापि । तथा शनैर्निद्रेत्यत्र, निर्वर्ण्य पत्युर्मुखमित्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुर्यम् । विस्रब्धमित्यत्र महाप्राणघटितस्य, लज्जेत्यत्र स्वात्मसवर्ण-झय्द्वयघटितस्य, मुखी प्रियेणेत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य, तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्वः, लोकतेश्च धातोर्द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसा-मग्रीदारिद्र्यं प्रकाशयति । इत्यलं परकीयकाव्यविमर्शनेन । इति संक्षेपेण निरूपिता रसाः ।

अथ भावध्वनिर्निरूप्यते—

अथ किं भावत्वम् ? विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः । अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्ज-कत्वात् । द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसंभवः प्रसज्येत[1] । भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च ।

हरति—**यथेति** । अत्र लज्जेति पृथक्पदम् । तेन समानकर्तृकत्वोपपत्तिः । **एवमिति** । उक्तस्थल एवेत्यर्थः । नैकट्येनासकृत्प्रयोगोऽश्रव्य इति भावः । **प्राचुर्यमिति** । तथा चाश्रव्यमिति भावः । **स्वात्मेति** । स्वात्मघटितः सवर्णझय्द्वयघटितश्चेति दोषद्व-यम् । **घटितस्येति** । द्वयस्य संयोगस्येत्यत्रान्वयः । सकृदिति तस्य शेषः । तस्य च प्रयोग इत्यत्रान्वयः । एवमग्रेऽपि । तस्य प्रकाशने कर्तृत्वम् । निर्माणेत्यस्य काव्येत्यादिः । अथ रसनिरूपणानन्तरम् । भावना पुनः पुनरनुसंधानम् । अत एव च भावनायामति-

---

१ भावना हि द्वारान्तरमनपेक्ष्य रसं व्यनक्ति । ततश्च तस्यामपि 'विभावानुभावभिन्नत्वे सति द्वारान्तरनिरपेक्षं रसव्यञ्जकत्वं—भावत्व'मतिप्रसक्तमिति भावः ।

अत एव च विभावानुभावभिन्नत्वस्येव शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे न निस्तारः। प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताभावादव्याप्त्यापत्तेश्च। न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्। भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात्। भावचमत्कारप्रकर्षाद्भावध्वनित्वम्। रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्। चमत्काररहितरसव्यक्तौ मानाभावात्। रसे हि धर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाऽविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्।

अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्। तथापि देशकालवयोवस्थादिनानापदार्थघटिते पद्यवाक्यार्थे तथा-

---

व्याप्तेरेव च। तद्विशेषणत्वे व्यञ्जकत्वविशेषणत्वे। **अस्तु वा प्राधान्येनेति**। रसं प्रति गुणीभूतत्वेऽपि वाच्यातिशायित्वात्तद्ध्वनिर्वं राजानुगम्यमानविवहनप्रवृत्तभृत्यस्येव रसापेक्षयापि हि अस्य प्राधान्यमस्ति। अत एव न भावध्वनिविलोप इति भावः। तथापि उक्तस्थलेऽव्याप्त्यापत्त्यभावेऽपि। तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति [शब्दभिन्नत्वे सति] रसव्यञ्जकत्वमित्युक्तावपि। भिन्नत्वे सतीत्युपलक्षणं शब्दभिन्नत्वे सती-

---

१ भावना हि शब्दाद् भिन्ना सत्येव द्वारान्तरनिरपेक्षा रसं व्यञ्जयतीति।

२ तत्र हि स भाव एव विभावादिसामग्र्या व्यङ्ग्यो भवति, न स रसव्यञ्जकस्तत्र भावत्वं न सिध्येदित्याशयः।

३ चरमा रसाभिव्यक्तिरेव चेत्परिगण्येत तर्हि भावध्वनिस्थलेपि चरमां रसप्रतीतिमालम्ब्य रसत्वव्यपदेशः स्यादिति भावध्वनिव्यपदेशस्य लोप एव स्यादित्याशयः।

४ ननु भावध्वनिस्थले रससत्तायामपि भावकृतश्चमत्कार एव तत्र प्रकृष्टो न रसस्य चमत्कार इति विभावानुभावभिन्नत्वे सति शब्दभिन्नो रसाभिव्यञ्जको भाव इति लक्षणे न दोषः स्यादिति चेत्, न। अभिव्यक्तो रसश्चमत्काररहितो भवेदत्र न किञ्चिन्मानम्?

५ धर्मिणो रसस्य ग्राहकं प्रत्यायकं यन्मानं प्रमाणं तेनैव रसस्य आनन्दांशाऽविनाभावित्वस्य प्रतिपादनात्। अयं भावः—विभावादिव्यञ्जनया यया सामग्र्या रसाभिव्यक्तिः साधिता तयैव हि रसोद्बोधे सति आनन्दस्यावश्यंभावित्वमप्यावेदितम्। भग्नावरणस्य चिदानन्दस्यैव रसत्वव्यपदेशात्।

६ ननु भावध्वनिस्थले चरमचमत्कारिरसाभिव्यक्तौ स्वीकृतायामपि विभावानुभावभिन्नत्वे सति शब्दभिन्न—रसाभिव्यञ्जकत्वरूपे भावत्वे भावध्वनित्वविलोपो न स्यात्। रसं प्रति गुणीभावेऽपि वाच्यातिशायित्वाद्भावध्वनित्वाऽक्षतेः, रसचमत्कारेऽपि राजानुगतस्य विवाहप्रवृत्तभृत्यस्येव ध्वन्यमानभावस्य प्राधान्याद्वा। इति पूर्वपक्षिण उक्तौ तथापि देशकालेत्यादिना दोषान्तरदानम्।

प्यतिव्याप्तिः । तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात् । नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम् । भावादिचर्वणायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

'कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते ॥'

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारज्ञाने अतिव्याप्तेः । तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च । नाप्यखण्डम्[1] । तत्त्वे मानाभावात् । अत्रोच्यते—

विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ॥

यदाहुः—'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति । हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः[2] । सापि रसन्यायेनेति केचित् । व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते ।

ल्यस्यापि । नापीत्यस्य वाच्यमित्यत्रान्वयः । चर्वणा आस्वादः । **चर्वणायामतीति** । रसाभिव्यञ्जकचित्तवृत्तित्वस्य तस्यां सत्त्वादिति भावः । कालागुरुद्रवं नितरां हालाहलवद्विजानती सा बाला नीलोत्पलमालामपि व्यालावलिं किलामनुत इत्यन्वयः । तस्य ज्ञानस्य । **चित्तवृत्तित्वाच्चेति** । अत्रैवानुभावभिन्नत्वे सतीति विशेषणदाने को दोष इति चिन्त्यम् । अखण्डं भावत्वमिति शेषः । तत्त्वे अखण्डत्वे । विशेष्यमात्रोक्तौ तेषां शब्दवाच्यत्वे तत्त्वापत्तिः । अतः **विभावादीति** । तावन्मात्रोक्तौ रसेऽतिप्रसङ्ग इति समुदितमुपात्तम् । अञ्जितोऽभिव्यक्तो व्यभिचारी भाव इत्यर्थः । **स्थायिभावेति** । प्रतिपादितमेतदधस्ताद्ग्रन्थकृता । सापि तद्गतानां तेषां तथाभिव्यक्तिरपि । **व्यङ्ग्यान्तरेति** । रसापेक्षया भिन्नं यद्व्यङ्ग्यं वस्त्वलंकारादि तद्रीत्येत्यर्थः । तथा च रसापे-

---

१ भावत्वमखण्डोपाधिः । एतस्मिन् हि लक्षणनिर्देशो नावश्यकः ।

२ मतत्रयमेवम्—वासनारूपेण सामाजिकानां हृदि स्थिताः स्थायिभावा नाटककाव्यादिषूपस्थितैर्विरुद्धाऽविरुद्धभावैरनभिभूततया तत्तदभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थिरामभिव्यक्तिं लभन्ते तथा इमे हर्षादयोपीति सिद्धान्तभूतः प्रथमः पक्षः ।

सामाजिकानां हृदि निसर्गेण वर्तमानोऽपि विभावानुभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण पिधाननिवृत्तौ स्थायिभावोपहितो भग्नावरणश्चिदानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते तथा विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या उद्रिक्तसत्त्वतया भग्नावरणचिद्विशिष्टा भावा अपि सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्ते इति केचित्पदसंदृब्धो द्वितीयः कल्पः ।

वाचक-लक्षकादिशब्दद्वारा वाच्य-लक्ष्याद्यर्थोपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन वस्त्वलंकारात्मको व्यङ्ग्यो यथा श्रोतॄणां हृद्यभिव्यज्यते तथा विभावादिवाचकतत्तच्छब्दप्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन भावा अपीमे सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्त इत्यपरे पदघटितं तृतीयं मतम् ।

विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ । न त्वेकस्मिन्व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयावश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः । वस्तुतस्तु प्रकरणादिवशात्प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे तदीयसामग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया[1] तनिमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य । न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः । पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव[2] (भावस्य), गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् । अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव भवेत् । विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम् । न तु रसस्येव सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते । यदि तु क्वचित्संभवतस्तदा न वार्येते । हर्षादयस्तु—

हर्षस्मृतिव्रीडामोहधृतिशङ्काग्लानिदैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रामतिव्याधित्राससुप्तिविबोधामर्षावहित्थोग्रतोन्मादमरणवितर्कविषादौत्सुक्यावेगजडतालस्यासूयापस्मारचपलताः । प्रतिपक्षकृतधिक्कारादि-

---

क्षयापकर्षः सूचितः । अत्र भावे । तस्यैव व्यभिचार्यन्तरस्य । प्रकरणादीनां तात्पर्ये नियामकत्वेन न तदापत्तिरित्याशयेन सिद्धान्तमाह—**वस्तुतस्त्विति** । **तदीयेति** । प्रधानभावीयेत्यर्थः । नान्तरीयकत्वे हेतुरयम् । अत एवाग्रे 'अत एव नान्तरीयकस्य' इति वक्ष्यति । **तनिमानमिति** । कक्षिमानमित्यर्थः । विनिगमनाविरहादाह—**अमर्षादौ वेति** । एवं सति व्यभिचार्यन्तरस्य प्रधानभावेऽङ्गत्वे सति । भावशरीरनिविष्टहर्षादीनाह—**हर्षादय इति** । एतेन पुत्रादिविषयरतेर्मुनिना भावत्वगणनेनेत्यर्थः ।

---

१ नित्यसंबद्धतया । अयं संदर्भस्याशयः—प्रकरणवशात्प्रधाने कस्मिंश्चिद्भावे तेन भावेन सह नित्यसंबद्धः, तनिमानमावहन् (स्तोकं प्रकाशमानः) अन्योपि कश्चिद्भावः प्रधानाभिव्यक्तिसामग्र्यैव यद्यङ्गतयाऽभिव्यज्यते, यथा गर्वादावमर्षः, तत एकस्मिन् भावे न केवलं विभावानुभावयोरेव, अपि तु भावान्तरस्यापि व्यञ्जकत्वे न दोषः । ननु भावं प्रति भावोऽत्र गुणीभूत इति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य व्यपदेशो भवेन्न ध्वनित्वस्य । इति तु न शङ्कितव्यम्, यत्राङ्गभूतो भावः पृथग् विभावानुभावाभ्यामेवाभिव्यज्यते न तु प्रधानभावाभिव्यक्तिसामग्र्या, तत्रैव गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यवहारात् । अन्यथा गर्वादिस्थले अमर्षादेर्नान्तरीयकतया गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव स्यात् ।

२ पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्य अत एवाऽनान्तरीयकस्य भावस्य भावान्तरगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वाद् । इति काशीमुद्रितपुस्तकपाठः ।

जन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः । गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।

एतेन वात्सल्याख्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम् । उच्छृङ्खलतायां मुनिवचनपराहतत्वात् ।

तत्र

इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ॥

तदुक्तम्—

'देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः प्रियसंगमः ।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः ॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते ।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत् ॥' इति ।

उदाहरणम्—

'अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना ।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥'

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः । मुखविकासोऽनुभावः ।

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ॥[1]

यथा—

'तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त
सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥'[2]

तदाह—उच्छृङ्खलेति । तत्र हर्षादीनां मध्ये । देवेत्यादि उत्पत्स्यन्तो विभावो यत्र जायते, नेत्रेत्याद्युक्ता अनुभावा यत्र जायन्ते तं हर्षमादिशेदित्यर्थः । तदा अवधिकाले । अथ हर्षानन्तरम् । श्रीरित्यग्रे चेति शेषः । तद्धनित्वं भावध्वनित्वम् । पूर्वमते स्मृति-

---

१ वस्तुनो दर्शनश्रवणादिना हृदये योऽयं संस्कारः संचीयते तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः ।

२ उत्तरोत्तरं निमीलनोन्मुख-नयनाया इत्याशयः ।

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः । भ्रून्नतिगात्रनिश्चलत्वादय आक्षेपगम्या अनुभावाः । यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः संचारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपदगम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य, संयोगाद्विप्रलम्भरसाभिव्यक्ते रसध्वनित्वं शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरःस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्ध्वनित्वमुक्तम् । तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये बुद्धेः शक्यतावच्छेदकानुगमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यतावच्छेदकमिति नयेऽपि स्मृतित्वेन स्मृतेर्व्यक्तिवेद्यतैव ।

त्वेन स्मृतेर्वाच्यत्वात्कथं भावध्वनित्वमत आह—**बुद्धेरिति** । शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्येत्यर्थः । द्वितीयमते बुद्धिस्थत्वस्य वाच्यत्वेऽपि न स्मृतित्वस्य तत्त्वमित्याह—**स्मृतित्वेन स्मृतेरिति** । व्यक्तिर्व्यञ्जना । 'व्यङ्ग्यस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव

---

१ अस्य शङ्कासमाधानप्रघट्टकस्य सर्वस्यापि निर्गलितः सारांशो निर्दिश्यते—'तत्'पदस्यार्थविषये नैयायिकानां मतद्वयम् । तत्पदेन हि बुद्धिस्थत्वेनाऽनुगतीकृतः असाधारणपदार्थो बोध्य इति प्रथमम् । बुद्धिस्थत्वरूपेण अनुगमकधर्मेण व्यवस्थितानां नानार्थानां बोधनादेव 'तत्'पदं सर्वार्थबोधकं सदपि अनेकार्थं न परिगण्यते । तदादिस्थले इदं बुद्धिस्थत्वमेव (धर्मः) सकलानां शक्यतावच्छेदकानाम् (शक्यविशेषणानाम्) अनुगमकं स्वीक्रियते ।' अयं चानुगमकः कस्यापि पदस्य शक्यो न परिगण्यते इति प्रथममतस्य सारः । 'तत्'पदेन पदार्थस्य असाधारणरूपेण बोधो न भवति, किन्तु बुद्धिस्थत्वेन । बुद्धिस्थत्वं च शक्यतावच्छेदकमिति द्वितीयम् । बुद्धिस्थत्वेनानुगतीकृतः असाधारणः पदार्थो बोध्यत इति प्रथमे, बुद्धिस्थरूपोऽर्थो बोध्यत इति द्वितीये । उभयत्रापि तत्पदेन बुद्धिस्थं परामृश्यते । बुद्धिर्ज्ञानं चैकमेव । स्मृतिर्ज्ञानरूपा । अत एव 'तत्'पदेन यदा बुद्धिस्थं परामृश्यते तदा तेन (तत्पदेन) ज्ञानरूपायाः स्मृतेरपि परामर्शात् तन्मञ्जु० इत्यादिपद्यं स्मृतिध्वनेरुदाहरणं न संभवेत् । अत्र हि तत्पदेन ज्ञानरूपायाः स्मृतेः परामर्शात् स्मृत्या सह वाच्यतायाः संबन्धो जातः । ध्वनिश्च तत्रैव भवति यत्र हि व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यतावृत्तेः कथमपि संस्पर्शो न भवेदिति शङ्का । प्रथममतानुसारमस्मिन्पद्ये तत्पदस्य शक्यः असाधारणसौन्दर्यविशिष्टं हसितादि । बुद्धिस्तु शक्यतावच्छेदकस्य अनुगममात्रं कारयति । सा वाच्या (शक्यः) न भवितुमर्हति । द्वितीयनयेऽपि–तत्पदस्य शक्यतावच्छेदकं बुद्धिस्थत्वं भवति । ततश्च 'बुद्धिस्थघटितबुद्धेः सामान्यज्ञानरूपेण प्रतिपादनेऽपि स्मृतित्वेन विशेषरूपेण स्मृतिर्व्यञ्जनयैव बोध्या, न शक्त्या । तथा च मतद्वयेपि स्मृतेर्वाच्यत्वाभावात्स्मृतिध्वनित्वमव्याहतमिति समाधानम् ।

प्यतिव्याप्तिः । तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात् । नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम् । भावादिचर्वणायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

'कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम् ।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते ॥'

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारज्ञाने अतिव्याप्तेः । तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च । नाप्यखण्डम्[1] । तत्त्वे मानाभावात् । अत्रोच्यते—

विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ॥

यदाहुः—'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति । हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः[2] । सापि रसन्यायेनेति केचित् । व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते ।

ल्यस्यापि । नापीत्यस्य वाच्यमित्यत्रान्वयः । चर्वणा आस्वादः । **चर्वणायामतीति** । रसाभिव्यञ्जकचित्तवृत्तित्वस्य तस्यां सत्त्वादिति भावः । कालागुरुद्रवं नितरां हालाहलवद्विजानती सा बाला नीलोत्पलमालामपि व्यालावलिं किलामनुत इत्यन्वयः । तस्य ज्ञानस्य । **चित्तवृत्तित्वाच्चेति** । अत्रैवानुभावभिन्नत्वे सतीति विशेषणदाने को दोष इति चिन्त्यम् । अखण्डं भावत्वमिति शेषः । तत्त्वे अखण्डत्वे । विशेष्यमात्रोक्तौ तेषां शब्दवाच्यत्वे तत्त्वापत्तिः । अतः **विभावादीति** । तावन्मात्रोक्तौ रसेऽतिप्रसङ्ग इति समुदितमुपात्तम् । अञ्जितोऽभिव्यक्तो व्यभिचारी भाव इत्यर्थः । **स्थायिभावेति** । प्रतिपादितमेतदधस्ताद्ग्रन्थकृता । सापि तद्गतानां तेषां तथाभिव्यक्तिरपि । **व्यङ्ग्यान्तरेति** । रसापेक्षया भिन्नं यद्व्यङ्ग्यं वस्त्वलंकारादि तद्दीत्येत्यर्थः । तथा च रसापे-

---

१ भावत्वमखण्डोपाधिः । एतस्मिन् हि लक्षणनिर्देशो नावश्यकः ।

२ मतत्रयमेवम्—वासनारूपेण सामाजिकानां हृदि स्थिताः स्थायिभावा नाटककाव्यादिषूपस्थितैर्विरुद्धाऽविरुद्धभावैरनभिभूततया तत्तदभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थिरमभिव्यक्तिं लभन्ते तथा इमे हर्षादयोपीति सिद्धान्तभूतः प्रथमः पक्षः ।

सामाजिकानां हृदि निसर्गेण वर्तमानोऽपि विभावानुभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण पिधाननिवृत्तौ स्थायिभावोपहितो भग्नावरणश्चिदानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते तथा विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या उद्रिक्तसत्त्वतया भग्नावरणचिद्विशिष्टा भावा अपि सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्ते इति केचित्पदसंदृब्धो द्वितीयः कल्पः ।

वाचक-लक्षकादिशब्दद्वारा वाच्य-लक्ष्याद्यर्थोपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन वस्त्वलंकारात्मको व्यङ्ग्यो यथा श्रोतॄणां हृद्यभिव्यज्यते तथा विभावादिवाचकतत्तच्छब्दप्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन भावा अपीमे सामाजिकानां हृद्यभिव्यज्यन्त इत्यपरे पदघटितं तृतीयं मतम् ।

तस्याश्चात्र वाक्यवेद्यत्वेऽपि पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात्पदध्वनिविषयत्वम् । एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परास्तम् । सायंतनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः ।

'दरानमत्कंधरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः ॥'

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात् । नापि स्मरणालंकारः, सादृश्यामूलकत्वात् । सादृश्यमूलकस्यैव स्मरणस्यालंकारत्वम्, अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात् । किं तु विभावे एव सुन्दरत्वात्कथंचिद्रसपर्यवसायी ।

स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा ॥

चमत्कारित्वमित्यालंकारिकसमयः' इति पूर्वतनग्रन्थेन विरोधाच्चिन्त्यमेतत् । व्यङ्ग्यतावच्छेदकतया भासमानजात्यादिरूपेण यत्र वाच्यता तत्रैवाचमत्कारिता । पूर्वोदाहरणे हि मनोरथत्वेच्छात्वयोर्घटत्वकलशत्ववदेकतया तेन रूपेणैव वाच्यतास्तीति न दोष इत्यपि कश्चित् । तस्या नायिकायाः । विभाव एव नायिकारूप एव । कथंचित्साम-

---

१ सर्वेण वाक्येन स्मृतिभावो यद्यपि बोध्यते तथापि 'तत्'पदमेव प्राधान्येन स्मृत्यभिव्यञ्जने स्फुरत्सामर्थ्यमिति पदप्रकाश्यध्वनित्वव्यपदेश इत्याशयः ।

२ उपमया ।

३ नायिकैव चमत्कारितया ईषत्कन्धराऽऽनमनादिकमनुभावम्, आक्षिप्तान् व्रीडादींश्च संचारिणः, समुपस्थाप्य रसमभिव्यनक्तीत्याशयः । एवमाक्षेपे परम्पराश्रयणमित्येव क्लेश इति कथंचित्पदस्थाकृतम् ।

४ शयिता सविधे इत्युदाहरणे वाच्यवृत्तेः कथमपि स्पर्शे—ध्वनित्वविघातक इत्युक्तम् । अत्र च बुद्धिस्थत्वघटितबुद्धित्वरूपेण स्मृतेरपि सामान्यतया वाच्यतास्पर्श इति कथमयं ध्वनिः पूर्वग्रन्थविरोधात् । इति केषांचिदाक्षेपः ।

व्यङ्ग्यतावच्छेदकतया भासमाना या जातिस्तज्जात्यादिरूपेण यत्र वाच्यता तत्रैव अचमत्कारकृतो ध्वनित्वनिरासः । शयिता सविधे इत्युदाहरणे घटत्व—कलशत्ववत् मनोरथत्वेच्छात्वयोरेकतया तेनैव रूपेण वाच्यतास्पर्शो भवतीति तत्र ध्वनित्वं निरस्यते । अत्र तु तथा नेति पण्डितराजोक्तौ न दोषः इति समाधानम् ।

यथा—

'कुचकलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना ।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश ॥'

अत्र प्रियस्य दर्शनं तेन[2] नायिकाकर्तृकतत्कुचान्तर्वर्तिप्रियनखक्षतावलोकनजन्यहर्षावेदकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभावः । सद्यः सदनप्रवेशोऽनुभावः ।

यथा वा—

'निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने ।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयांबभूव ॥'

पूर्वत्र त्रास इवात्रापि हर्षो लेशतया सन्नपि व्रीडाया अनुगुण एव । प्रियकर्तृकं कपोतस्याग्रे कपोत्याः समर्पणं विभावः । वदननमनमनुभावः ।

भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः ।

'अवस्थान्तरशबलिता सा[3] तथा' इति तु नव्याः ।

उदाहरणम्—

'विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित दयितेति ।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥'

अत्र कान्तवियोगो विभावः । इन्द्रियवैकल्यं लज्जाद्यभावश्चानुभावः ।

यथा वा—

'शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले कल्लोलिन्याः किंचिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाकर्षत्यम्बु नैवाम्बुजालिं कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥'

ध्यन्तराभावकृतः क्लेशः । सपुलकतन्विति क्रियाविशेषणम् । गवाक्षे विनिहितवदनमित्यन्वयः । चकितेत्यत्र कर्मधारयद्वयम् । **तेनेति** । प्रियेणेत्यर्थः । तत्कर्तृकमिति यावत् । पुलकादेर्दर्शनमित्यत्रान्वयः । **तत्कुचेति** । नायिकाकुचेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । सद्मशब्दार्थमाह—**सदनेति** । तरसा शीघ्रम् । स्मितेनार्द्रमिव नमयांबभूव नमयांचकार ।

---

१ चकिता नता च सा नताङ्गी ।

२ तेन प्रियेण अर्थात् प्रियद्वारा ।

३ वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थान्तरं प्राप्ता सा चिन्ताख्यचित्तवृत्तिरेव तथा अर्थात् मोहः ।

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ॥

उदाहरणम्—

'संतापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥'

अत्र विवेकश्रुतसंपत्त्यादिर्विभावः । चापलाद्युपशमोऽनुभावः । ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्तेः[1] कथमस्य धृतिभावध्वनित्वमिति चेत्, तस्य धृत्युपयोगितयैवाभिव्यक्तेः ।

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का ॥

उदाहरणम्—

'विधिवञ्चितया मया न यातं सखि संकेतनिकेतनं प्रियस्य ।
अधुना बत किं विधातुकामो मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥'

अत्र राजापराधो विभावः । मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः । इयं तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता ।

आधिव्याधिजन्यबलहानिप्रभवो वैवर्ण्यशिथिलाङ्गत्वदृग्भ्रमणादिहेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः ॥

यथा—

'शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव ।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव ॥'

अत्र प्रियविरहो विभावः । मधुरवीक्षणैरेवेत्येवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गमचरणनिपतनाश्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः । न चात्र श्रमः शङ्क्यः । कारणाभावात् । केचित्तु व्याध्यादिप्रभवबलनाशं ग्लानिमाहुः । तेषां मते

अम्बुजालिं कमलपङ्क्तिम् । जनितश्चासावुपप्लवश्च । उपद्रवश्चेत्यर्थः । धावं धावं धावित्वा धावित्वा । **कथमिति** । वस्तुध्वनिलक्ष्यैवौचित्यादिति भावः । तस्य चिन्ताभावरूपवस्तुनः । उपयोगिता पोषकता । विधिर्दैवम् । इयं तु शङ्का । तुरेवार्थे । सुषमा शोभाविशेषः । श्रमस्तदाख्यो भावः । **कारणेति** । तच्च स्फुटीभविष्यति । **लक्षणेति** ।

---

१ ननु चिन्ता मे नास्तीति वस्तु ध्वन्यते, ततो वस्तुध्वनिः सोयमिति शङ्का । सोयं ध्वनिर्धृतिभावं पोषयतीति धृतिध्वनित्वेनैव व्यपदेश इति समाधानम् ।

चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु नाशरूपाया[1] ग्लानेः कथं समावेश इति ध्येयम्। यद्यपि 'बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः।' इति लक्षणवाक्यादपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःखमेव बलापचयशब्देन विवक्षितम्।

दुःखदारिद्र्यापराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्॥

उदाहरणम्—

'हतकेन मया वनान्तरे वनजाक्षी सहसा विवासिता।
अधुना मम कुत्र सा सती पतितस्येव परा सरस्वती॥'

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामभद्रस्येयमुक्तिः। अत्र सीतापरित्यागरूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः। पतितसाम्यरूपस्वापकर्षभाषणमनुभावः।

यदाहुः—

'चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दार्गत्याच्च विभावतः।
अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्[2]गात्रगौरवात्॥
देहोपस्करणत्यागाद्दैन्यं भावं विभावयेत्॥' इति।
'दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्।' इति च।

अत्र हतकेन मया विवासिता न तु विधिनेत्येतस्यार्थस्य पतितोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया। यतः शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्। पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिसुलभत्वे स्वभावेन

मुन्युक्तेत्यादिः। अनुपपत्तिरसमावेशरूपा। **विवक्षितमिति**। एवं तु क्वचिद्ग्रन्थोऽपि सुयोज इति भावः। हतकेन हतसदृशेन। भाग्यरहितेनेति यावत्। वनजाक्षी जलजाक्षी। सहसा कारणं विनैव। परा उत्कृष्टा सरस्वती। श्रुतिरित्यर्थः। विनिगमकाभावादाह—**तज्जन्यमिति**। चित्तौत्सुक्यादिरूपविभावत्रयतः, शिरसोऽप्या(भ्या)वृत्त्यादिरूपानुभावत्रयतो दैन्यं भावं जानीयादित्यर्थः। वचनान्तरमाह—**दौर्गत्यादेरिति**। अनौजस्यमोजोगुणाभावः। सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायलभ्यमर्थमाह—**न तु विधिनेति**। जात्यैव स्वभावेनैव। तेनैव पतितेनैव। तथाविधं पातित्यजनकम्।

---

१ अर्थात् अभावरूपायाः।

२ अभ्यावृत्तिर्भ्रमणम्।

कृतेऽपि तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः श्रुतिर्दूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्येत्युपमालंकारो दैन्यमेवालंकुरुते । तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्यां कृतघ्नत्वकृतज्ञात्वनिर्दयत्वदयावतीत्वाद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेति स्मृत्या च लेशतः प्रतीयमानया ।

इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनिता ध्यानापरपर्याया वैवर्ण्यभूलेखनाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ॥

यदाहुः—

'विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा ।
इष्टार्थापहृतिः श्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥
संतापः स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः ।
अधृतिश्चानुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्तिता ॥
वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्त्ये वोपजायते ॥' इति ।
'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः संतापादिकरी मता ।' इति च ।

उदाहरणम्—

'अधरद्युतिरस्तपल्लवा मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी ।
अकृतप्रतिमा[1] तनुः कृता विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ॥'

तस्य रामस्य । तस्याः सीतायाः । साम्यमित्यस्यानुषङ्गः । **एवालमिति** । अलंकुरुत एवेत्यर्थः । न तु स्वयं प्रधानं येन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिरिति भावः । **उपादानलक्षणामूलध्वनिभ्यामिति** । स्वार्थमुपादायेतरार्थलक्षणमुपादानलक्षणा । लक्ष्यतावच्छेदकं चातिक्लेशे तदत्यक्तत्वं मत्पदस्य । वनवाससखीत्वमित्यादि च तत्पदस्य । व्यङ्ग्यार्थमाह— **कृतघ्नत्वेत्यादि** । यथाक्रममन्वयः । **तदेवेति** । दैन्यं परिपोष्यत एवेत्यर्थः । न तु प्राधान्यं येन दैन्यध्वनित्वोच्छेद इति भावः । **सेतीति** । यतस्तेन तद्धर्मप्रकाशोऽतो लेशतोऽशतः प्रतीयमानया सेति स्मृत्या च दैन्यं परिपोष्यत एवेत्यस्यानुषङ्गः । न तु प्राधान्यं येन स्मृतिध्वनित्वं स्यात्, न दैन्यध्वनित्वमिति भावः । यत्र चिन्तायाम् । अथ विभावकथनानन्तरम् । 'अस्याः' इति पाठे चिन्ताया इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । तथा चेतः प्राक्तनाविर्भावः । अस्या इत्यस्यानुभावा इत्यनेनान्वयात् । देहानुपस्कृतिर्देहाप्रसाधनम् । वितर्को वक्ष्यमाणस्वरूपः । अस्तपल्लवेति पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिः । पल्लवपदेन तच्छोभा । **अकृतप्रतिमेति** । उपमानमित्यर्थः । कृता मृगीदृश इत्यनयोः सर्वत्र

---

१ न कृता प्रतिमा (उपमानम्) यस्याः । निरुपमा ।

अत्र तदप्राप्तिर्विभावः। अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः। न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति वाच्यम्। कस्य कृत इत्यनिर्धारितधर्म्यालम्बनाया-श्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येना-ऽबोधनात्।

मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्यः शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्ति-विशेषो मदः॥

यदाहुः—'संमोहानन्दसंदोहो मदो मद्योपयोगजः।' इति। तत्रो-त्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः। मध्यमे हसितगाने। नीचे तु रोदनपरुषो-क्त्यादि। अयं च मदस्त्रिविधः, तरुणमध्यमाधमभेदात्। अव्यक्ता-संगतवाक्यैः सुकुमारस्खलद्गत्या च योऽभिनीयते स आद्यः। भुजाक्षे-पस्खलितघूर्णितादिभिर्मध्यमः। गतिभङ्गस्मृतिनाशहिक्काच्छर्दादिभिरधमः।

उदाहरणम्—

'मधुरतरं स्मयमानः स्वसिन्नेवालपञ्शनैः किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥'[1]

अत्र मादकद्रव्यसेवनं विभावः। अव्यक्तालापाद्यनुभावः। अत्र मत्त-स्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमद्व्यञ्जनार्थत्वान्मदभाव एव प्रधानमिति न स्वभावोक्त्यलंकारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्भन्युपस्कारकत्वमेव।

संबन्धः। तदप्राप्तिस्तादृशनायिकाऽप्राप्तिः। प्रतीयेत्यस्य द्राक्प्राधान्येनेत्यादिः। उपयोगः प्राशनम्। **संमोहेति**। अनयोः समूहो यत्रेत्यर्थः। तत्र शयनादीनां मध्ये। **उत्तमे पुरुषे इति**। 'उत्तमसत्त्वः प्रहसति गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः। परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः॥' इति प्रदीपविरुद्धमेतत्। **अव्यक्तेति**। अस्पष्टाक्षरासंबद्ध-वाक्यैरित्यर्थः। सुकुमारेति कर्मधारयद्वयम्। शनैरित्यनेनाव्यक्तत्वम्, किमपीत्यनेनासंगत-त्वम्। त्रिलोकीं कोकनदयन्। आलम्बनेति क्रियाविशेषणम्। **तन्निष्ठेति**। मत्तनि-ष्ठेत्यर्थः। **तद्भन्युपेति**। मदभावध्वन्युपेत्यर्थः। ननु क्षीबपदेन विशेषणविधया वाच्यस्य मदस्य कथं ध्वनितास्पदत्वम्, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चम-त्कारित्वमिति स्वयमेव प्रागावेदनात्। एवं च स्वभावोक्त्यलंकार एवायमत आह—

---

१ रक्तकमलायिताम् (अरुणनेत्रकान्त्यारक्ताम्) कुर्वन्।

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

'मधुरसान्मधुरं[1] हि तवाधरं तरुणि मद्वदने विनिवेशय ।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं पपपतामि हहा भभभूतले ॥'

अत्रापि स एव विभावः । अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता ग्राम्योक्तिरुत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च मदमेव पोषयतः ।

बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निःश्वासाङ्गसंमर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः ॥

यदाहुः—

'अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्रसंवाहनैरास्यसंकोचैरङ्गमोटनैः ॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ॥' इति ।
'श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ।' इति च ।

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव च जायते, न तु ग्लानिः । अतो ग्लानेः श्रमस्य भेदः ।

उदाहरणम्—

'विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना ।
चिराय चित्रे लिखितेव तन्वी न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत् ॥'

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः । स्पन्दराहित्यशयनादयोऽनुभावाः । न चात्र निद्राभावध्वननेन गतार्थतेति शङ्क्यम् । सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमासीदित्य-

---

इदं वा पुनरिति । हि यतो मधुरसान्मधुरं तव स्वस्य । स एव मादकद्रव्यसेवनरूपः प्रागुक्त एवेत्यर्थः । **अधिकेति** । पपहहाभमेत्यर्थः । निरूपणं चेत्यस्योभे इति शेषः । अध्वेति त्रयाणां द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । अनुभावकैरित्यस्याग्रेतनैरन्वयः । संवाहनं सेवनम् । मोटनं मोडनमिति भाषाप्रसिद्धम् । मन्दैरित्युत्तरान्वयि । **अतो ग्लानेरिति** । उक्तहेतुद्वयाद्ग्लानेः सकाशादित्यर्थः । दृष्टान्तेन सुषुप्तेरेव लाभः, न तु स्वप्नस्येत्याशयेनाह— **सुषुप्तौ हीति** । **नैवेति** । यत्नं प्रति तस्य कारणत्वादिति भावः । ननु स्पष्टार्थमेव

---

१ मधुनो रसात् ।

स्यानतिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीङाभिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च । श्रमे त्वानुगुण्यमुचितम् ।

रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ॥

उदाहरणम्—

'आ मूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥'

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभावः । पराधिक्षेप-परैतादृशवाक्यप्रयोगोऽनुभावः । इमं चासूयापि लेशतः पुष्णाति । उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयं तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः । तथा हि वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'यदि वक्ति—' इत्यादि पद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेवतयापि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन[1] प्रतीयमानः ।

श्रमादिप्रयोज्यं चेतःसंमीलनं निद्रा ॥

नेत्रनिमीलनगात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

उदाहरणम्—

'सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा ।
बोधितापि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥'

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः । मधुपैर्बोधाभावोऽनुभावः ।

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः ॥

अत्र निःशङ्कतदर्थानुष्ठानसंशयोच्छेदादयोऽनुभावाः ।

तदस्तु अत आह—**शीङेति** । प्रकारतयेति भावः । तस्या निद्रायाः । रत्नसानुः सुमेरुः । मृद्वीका द्राक्षा । निर्यन्निःसरन् । झरी प्रवाहः । तस्माद्वीररसध्वनेः । मदन्य इतीति गर्वाकारः । सोल्लुण्ठं साभिप्रायम् । वचनेन आ मूलादित्यादि मदन्य इत्यन्तेन ।

---

१ 'यदि वक्ति' इत्यादिपद्ये उत्साहस्य परिपोषकतया अङ्गभावेन स्थितो गर्वः 'आमूलात्' इति पद्यवत् प्राधान्येन प्रतीयमानो नास्तीति भावः ।

उदाहरणम्—

'निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम् ।
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हन्त मया परिश्रमः ॥'

'शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमं—' इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः । हन्त-पदगम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्विंतृष्णता चानुभावः । झगिति मतेरेव चमत्काराद्ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य । विलम्बेन प्रतीतेः ।

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ॥

गात्रशैथिल्यश्वासादयोऽत्रानुभावाः ।

यदाहुः—

'एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ।
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥'

उदाहरणम्—

'हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती ।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ॥'

विरहोऽत्र विभावः । अङ्गक्षेपादिरनुभावः ।

भीरोर्घोरसत्त्वदर्शनस्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः ॥

अनुभावाश्चास्य रोमाञ्चकम्पस्तम्भभ्रमादयः ।

यदाहुः—

'औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः ।'

उदाहरणम्—

'आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामिनीयां सुषमामयासीत् ॥

दोषा रात्रिः । **ये ज्वरादय इति** । लोके इति शेषः । इह शास्त्रे । तत्प्रभवो ज्वरादि-प्रभवः । **तदुदन्तेति** । नायकोदन्तेत्यर्थः । मुखे इत्येकवचनेनैकवार्तैव सर्वाभिरुच्यत इति ध्वनितम् । तदलाभादैन्यं दृष्टौ । भीरोर्भयशीलस्य । सत्त्वं प्राणी । स्फूर्जथुर्वज्रनि-र्घोषः । औत्पातिकैरुत्पातसूचकैर्घोरसत्त्वदर्शनादिभिः । मनःक्षेपश्चित्तवृत्तिविशेषः । केली-रभसेन क्रीडाराभस्येन । नायकोक्तिरियम् । आरादूरम् । ततोऽचिरस्थायिलेन विद्युच्छो-

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः। पलायनमनुभावः। न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्। शैशवेनैव[1] तस्या निरासात्।

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

'मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति कम्पते मम स्वान्तम्।
खेलन्न जातु गोपैरम्ब विलम्बं करिष्यामि॥'

एषा भगवतो लीलागोपकिशोरस्योक्तिः।

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम्॥

स्वप्न इति यावत्। अस्यानुभावः प्रलापादिः। नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया एवानुभावा न त्वस्य, अनिदंजन्यत्वात्। यत्तु प्राचीनैः 'अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनं—' इत्याद्युक्तं तदन्यथासिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम्[2]।

उदाहरणम्—

'अकरुण मृषाभाषासिन्धो विमुञ्च ममाञ्चलं
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ्मयेत्यनुभाषिणीम्।
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां
क इह भवतीं भद्रे निद्रे विना विनिवेदयेत्॥'

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवंभाषिणीं दृष्टवतो निद्रां प्रति कस्यचिदुक्तिः। यद्यप्येवंभूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन निद्रे मम भवत्या महानुपकारः कृत इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथ-

---

भालाभः। पत्या तत्कर्तृकम्। 'शब्दानुशासनमाचार्येण' इतिवत्प्रयोगः। **शैशवेनैवेति**। बालपदबोध्येनेत्यर्थः। तस्या लज्जायाः। एवं च मूले कुठारान्न तदाशङ्केति भावः। ननु बालपदं न शैशवबोधकम्, किं तु विशेषबोधकमत आह—**इदं वेति**। कशां ताडनरज्जुम्। वस्तुतस्तत्त्वाभावादाह—**लीलेति**। **अनिदंजन्यत्वादिति**। एतज्जन्यत्वाभावादित्यर्थः। स्वप्नजन्यत्वाभावादिति यावत्। **अन्यथेति**। निद्रयेत्यर्थः। **एतदिति**। स्वप्नेत्यर्थः। **मृषेति**। मिथ्याभाषिन्। इह प्रवासे। **प्रियतमेति**। नायि-

---

१ शिशुतया लज्जा स्वतो निरस्ता, अतो लज्जाया व्यङ्ग्यत्वं नाशङ्कनीयम्। शिशूनामेवंविधे स्थले त्रासो भवति न लज्जेत्याशयः।

२ निद्रायां संभवन्तस्ते सुप्तमपि व्याप्नुवन्ति (स्वप्नमप्यधिकुर्वन्ति) इति सुप्त-भावेऽपि नेत्र-निमीलनादयः प्रोक्ता इत्याशयः।

मवतरति, तथापि पुरःस्फूर्तिकतया स्वप्नध्वननमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे ।

निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः ॥

निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्द-स्पर्शादिभिर्जायत इति त एवात्र विभावाः । अक्षिमर्दनगात्रमर्दनादयोऽनुभावाः ।

तत्र संक्षेपेणोदाहणम्—

'नितरां हितयाद्य निद्रया मे बत यामे चरमे निवेदितायाः ।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत्प्रचुकोप वारिवाहः ॥'

अत्र गर्जितश्रवणं विभावः । प्रियावचनश्रवणोल्लासनाशोऽनुभावस्तून्नेयः । केचिदविद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति । तेषां मते

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥'

इति गीतापद्यमुदाहार्यम् । न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम् । विबोधप्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्ननौचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽसूयाया विलम्बेन प्रतीतेः, परमुखेनिरीक्षकत्वात् । स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिबोधकं किंचिदपि स्यात् । नापि स्वप्नस्य, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः । अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूयया च सहास्य संकरः ।

केत्यर्थः । **अत्रोदाहृतमिति** । अस्यापि वाच्यातिशायित्वादेतद्ध्वनित्व्यवहारोऽपि । तथ च सांकर्यमिति भावः । तत्पूर्तिर्निद्रापूर्तिः । वारिवाहो मेघः । अमुं विबोधम् । सिंहावलोकनन्यायेनासूयाध्वनित्वं निराचष्टे—**न त्विति** । हि यतः । तस्मिन्विबोधे । तस्या अप्यसूयाया अपि । स्वप्नस्य वाक्यार्थतेति शङ्क्यमित्यस्यानुषङ्गः । जलाहरणकर्तृत्वेन बोधकवारिवाहशब्दस्य सत्त्वात्, अत आह—**अस्तु वा स्वप्नभावेति** । इदं वक्ष्यमाणम् । सकलां यामिनीमभिव्याप्य सहस्थितवतीं निद्रां गाढमालिङ्ग्याथ च प्रातस्तां विहाय स

---

१ पर्यन्ते यदि वस्तु-विप्रलम्भध्वनी अपि स्फुरतश्चेत्तावपि भवत एवेत्याशयः ।

२ विबोधोत्तरं जायमानतया तदधीनत्वमित्याशयः ।

इदं तु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्ग्य सकलां यामिनीं सहतस्थुषीम् ।
निद्रां विहाय स प्रातरालिलिङ्गाथ चेतनाम् ॥'

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात् । यथा कश्चित्सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा यथोचिते काल एकामुपभुज्य कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते, तथैवायं रात्रौ निद्राम्, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

परकृतावज्ञादिनानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ॥

प्राग्वत्कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावानुभावत्वम् ।

उदाहरणम्—

'वक्षोजाग्रं पाणिनामृश्य दूरे यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।
शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे ॥'

इह त्वाकस्मिकस्तनाग्रस्पर्शो विभावः । नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणे अनुभावौ । ननु क्रोधामर्षयोः स्थायिसंचारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेत्, विषयतावैलक्षण्यमेवेति गृहाण । तत्र तु गमकं झटिति परविनाशादौ प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्यवैलक्षण्यम् ।

चेतनामालिलिङ्गेत्यन्वयः । नन्वेवं विबोधभावध्वनित्वाभावेऽपि कस्येदमुदाहरणम्, अत आह—**यथेत्यादि** । प्राग्वद्विबोधवत् । कारणानां परकृतावज्ञादीनाम् । कार्याणां मौनादीनाम् । आमृश्य संस्पृश्य । **जोषं जोषमिति** । निर्निमेषं दृष्ट्वा दृष्ट्वेत्यर्थः । जोषमेव तूष्णीमेव । भामिनी कर्त्री । अत्रादिसंग्राह्यविभावानुभावयोः सत्त्वमित्याह—**इह त्विति** । इदं च निर्निमेषनिरीक्षणं सेवार्थकजुषा णमुला च गम्यं तदाह—**निर्निमेषेति** । इदमुपलक्षणम् । मौनमप्यनुभावो बोध्यः । **किं भेदकमिति** । उक्तकारणकार्ययोस्त्वैक्यमेवेति भावः । तत्र तु विषयतावैलक्षण्ये तु । **कार्येति** । क्रोधामर्षयोर्य-

---

१ द्वयोर्विषया भिन्ना भवन्तीति ।

२ उत्कटावस्थापन्नो भावः क्रोधः, कोमलावस्थापन्नोऽमर्ष इति तात्पर्यम् ।

व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम् ॥

तदुक्तम्—

'अनुभावपिधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते ।
तद्विभाव्यं भयव्रीडाधार्ष्ट्यकौटिल्यगौरवैः ॥'

यथा—

'प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः ।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः
फणायां साश्चर्यं[1] कथयतितरां ताण्डवविधिम् ॥'

अत्र व्रीडा विभावः । तादृशकालियकथाप्रसङ्गोऽनुभावः । एवं भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ॥

यदाहुः—

'नृपापराधोऽसद्दोषकीर्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्रानुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ॥' इति ।

यथा—

'अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम्[2] ।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥'

थाक्रममित्यादिः । **हर्षाद्यनुभावानामिति** । हर्षादिजन्यानुभावानामित्यर्थः । भावविशेषोऽभिप्रायविशेषः । अनुभावेत्यस्य हर्षादिजन्येत्यादिः । तदवहित्थम् । भयादिभिर्विभाव्यं जन्यमित्यर्थः । गुरुषु तत्समीपे । गोपानां प्रसङ्गे इत्याद्यन्वयः । पन्नगपतेः कालियस्य । साश्चर्यमाश्चर्येण सहितम् । ताण्डवविधिं यदुपतेरिति भावः । **तादृशेति** । विषवमनकर्त्रित्यर्थः । **असदिति** । अविद्यमानदोषकथनमित्यर्थः । अङ्गाधिपतेः कर्णात् ।

---

१ पूर्वार्धोक्तौ स्वेद-रोमाञ्चौ प्रेमजनितौ न, अपि तु पराक्रमवर्णनजन्याविति प्रकटनेन भावगुप्तिः ।

२ अङ्गाधिपतेः सकाशात् अमङ्गलं भङ्गमवाप्येत्यन्वयः ।

एषा कर्णेन पराभूतं गाण्डिवं निन्दन्तं युधिष्ठिरं प्रति धनंजयस्योक्तिः। युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दात्र विभावः। वधेच्छानुभावः। न चामर्षोग्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्। प्रागुदाहृतेऽमर्षध्वनावुग्रताया अप्रतीतेः। नाप्यसौ क्रोधः। तस्य स्थायित्वेनास्याः संचारिणीत्वेनैव भेदात्।

विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः॥

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम्।

उदाहरणम्—

'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा॥'

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं पृच्छन्तं नायकं प्रति कस्याश्चित्संदेशहारिण्या उक्तिः। प्रियविरहोऽत्र विभावः। असंबद्धोक्तिरनुभावः। उन्मादस्य व्याधावन्तर्भावे संभवत्यपि पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय।

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्॥

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्। चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः। भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।

उदाहरणम्—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने संप्रति या विलोकितासीत्।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि॥'

प्रियविरहोऽत्र विभावः। वचनविरामोऽनुभावः। हन्तपदस्यात्रात्य-

परेति। उत्कृष्टेत्यर्थः। पराभूतमिति युधिष्ठिरविशेषणम्। **न चामर्षोग्रेति**। कारणाधिक्यादिति भावः। **अप्रतीतेरिति**। अस्यां वधादीच्छापि न तस्मिन्नित्यनुभावभेदादिति भावः। असावुग्रता। **भेदादिति**। गुरुबन्धुवधादिजन्यः, स्थायी, वागपराधादिजन्यः संचारीति भेद इत्यपरे। **व्यावृत्तय इति**। ज्ञानस्योन्मादत्वव्यावृत्तय इत्यर्थः। **तस्याप्रसक्तेरिति**। मुख्यमरणस्यान्तर्भावासंभवादित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—**भावेषु चेति**। अङ्गीकुरुते न। न प्रतिवदतीत्यर्थः। अत्र मरणे हन्तपदस्य दुःखातिशयबोध-

न्तमुपकारकत्वाद्वाक्यव्यङ्ग्योऽप्ययं भावः पदव्यङ्ग्यतामावहति । एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्तम् । दयितस्य गुणाननुस्मरन्तीत्यनेन व्यज्यमानं 'चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुण-विस्मरणं नाभूदिति' वस्तु विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् । अयं च भावः स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण संदर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः । कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

संदेहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः ॥

स च निश्चयानुकूलः ।

'यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी नितरामेव न विद्यते भुवि ।
अथ मे कथमस्ति जीवितं न विनालम्बनमाश्रितस्थितिः ॥'

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैषोक्तिः । भुवि सीतास्ति न वेति संदेहोऽत्र विभावः । भ्रूक्षेपशिरोङ्गुलिनर्तनमाक्षिप्तमनुभावः । न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन[1] निश्चयं प्रत्यप्रयोजकत्वात् । किं भविष्यति कथं भविष्यतीत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः, इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायश इत्याकारस्य वितर्कस्य, विषयवैलक्षण्योपलम्भाच्च । न विनेत्यादि-नोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः[2] ।

कलादिति भावः । प्रकृतेऽनुपदं वक्ष्यमाणरीत्या विप्रलम्भासंभवादाह—**शोकेति** । करुणस्थायिभावस्येत्यर्थः । अस्य पुरोऽनभिव्यक्तेराह—**चरममिति** । अत एवैतद्ध्वनि-त्वम् । तदेवाह—**अयं चेति** । नन्वस्य प्रधानोदाहरणं कुतो न दत्तमत आह—**कवय इति** । पुनःशब्दो हिशब्दार्थे । आदिना विपर्ययपरिग्रहः । आलम्बनमाधारभूतम् । ननु नियमे तदभावेऽपि लक्षणे तदनिवेशात्प्रकृते तत्संभव एवात आह—**किं भविष्य-तीति** । ननु न विनेत्यादिनार्थान्तरन्यासस्य प्रतीतेः कथं ध्वनित्वमत आह—**न विने-**

---

१ चिन्तायामन्ते नियमेन निश्चयः स्यादिति नास्ति । अयं तु निश्चयानुकूलः ।

२ अर्थान्तरन्यासः (आधारं विना आधेयस्थितिर्नेति) निश्चयानुकूलस्य वितर्कस्यैव अनुरूपो न तु चिन्तायाः । तथा च सोयं भावपोषकतया अङ्गं न तु प्रधानमिति नालंकारप्राधान्यम् ।

इष्टासिद्धिराजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः ॥

उदाहरणम्—

'भास्करसूनावस्तं याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।
दुर्योधनस्य जीवित कथमिव नाद्यापि निर्यासि ॥'

अत्र स्वापकर्षपरोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः । जीवितनिर्याणाशंसा, तदाक्षिप्तं वदननमनादि चानुभावः । अस्मिन्नेव च विषादध्वनौ दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिरनुग्राहकः । न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात् । नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्धा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात् । नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात् । न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात् ।

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

'अयि पवनरयाणां निर्दयानां हयानां
श्रुथय गतिमहं नो संगरं द्रष्टुमीहे ।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्य-
द्भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः ॥'

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विषादस्याप्रतीतेः । लेशतया प्रतीतौ वा त्रास एवानुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोग्यत्वात् ।

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा औत्सुक्यम् ॥

त्यादीति । सामान्येन विशेषसमर्थनमत्र बोध्यम् । भास्करसूनौ कर्णे । दुर्योधनस्य जीवितेति संबुद्धिः । हे वीरेत्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालंकारे । निर्यासि गच्छसि । विषादध्वनित्वं द्रढयति—**अस्मिन्नेवेति । वाच्यध्वनिरिति** । लक्ष्यतावच्छेदकं च कर्णदर्शनावधिजीवित्वम्, एकादशाक्षौहिणीपतिवन्द्यत्वम्, प्रतापेनागणितपाण्डवतेजस्त्वम्, पाण्डवानां वनवासादिदातृत्वं वा, अतिदुःखित्वं व्यङ्क्यम् । **परेति** । उत्कृष्टेत्यर्थः । **युद्धेति** । तथा च किं भविष्यतीत्याद्याकारायास्तस्या असंभव इति भावः । **तेनागेति** । तथा च तद्विभावस्याभाव इति भावः । **उत्साहस्येति** । तत्स्थायिभावः । अयीति कोमलामन्त्रणे । 'अमी मे' इति पाठः । बाहुजानां क्षत्रियाणाम् । अस्य पदार्थस्य ।

---

१ परापकर्षो जीवितं यस्य । उत्साहे हि परस्यापकर्ष एव प्रधानम्, अत्र तु स्वापकर्षो बोध्यत इत्यर्थः ।

इष्टविरहादिरत्र विभावः । त्वराचिन्तादयोऽनुभावाः ।

यदाहुः—

'संजातमिष्टविरहादुदीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ॥' इति ।

उदाहरणम्—

'निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥'

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य संभ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ॥

उदाहरणम्—

'लीलया विहितसिन्धुबन्धनः सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः कुत्र यामि निकटे कुलक्षयः ॥'

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्तिः । रघुनन्दनागमनमत्र विभावः । कुत्र यामीत्येतद्व्यङ्ग्यः स्थैर्याभावोऽनुभावः । न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्थैर्याभावेनोद्वेगस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परं त्वावेगचर्वणायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्तापि विषयीभवति ।

चिन्तोत्कण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसंधानविकला चित्तवृत्तिर्जडता ॥

इयं च मोहात्पूर्वतः परतश्च जायते ।

यदाहुः—

'कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा ।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥

निपतदिति । निपतद्बाष्पसंरोधेन मुक्तचाञ्चल्यास्तारका यस्येत्यर्थः । आलोकेय । लिङो रूपम् । **उद्वेगस्येवेति** । उद्वेगावेगौ पर्यायौ । **चिन्तोत्कण्ठेति** । 'चिन्तोत्कर्षे' इति पाठान्तरम् । **इष्टानिष्टेति** । प्रियानिष्टेत्यर्थः । **तद्विभेति** । जडताविभावा इत्यर्थः । रुजा रोगश्चेत्यर्थः । वाशब्दः समुच्चये । विदामर्थाद्रसज्ञानां मतमिष्टम् । दूरतो दूरे ।

---

१ यदि लेखकाऽशुद्धिर्न, तर्हि बहुवचनमिदं व्याख्यातुर्बहुज्ञत्वं दर्शयति ।

अनुभावास्त्वमी तूष्णींभावविस्मरणादयः ।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ॥'

उदाहरणम्—

'यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां सहचरि दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयैरथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥'

प्रियविरहोऽत्र विभावः । करणैश्चक्षुःश्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः । मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन बाहुल्येनाजननमिति तस्मादस्य विशेषः । अत एवोदाहरणे शिथिलीकृत इत्युक्तम्, न तु त्यक्त इति ।

अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखताऽऽलस्यम् ।

अत्र च नासामर्थ्यम् । नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरणरूपस्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

उदाहरणम्—

'निखिलां रजनीं प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता[3] कथाभिः ।
अधिकं नहि पारयामि वक्तुं सखि मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥'

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छन्तीं सखीं प्रति रजनिजागरणजनितालस्यायाः कस्याश्चिदुक्तिः । अत्र रजनिजागरणं विभावः । अधिकसंभाषणाभावोऽनुभावः । जडतायां मोहात्पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रेत्यपरो विशेषः । गोपनीयविषयत्वाद्यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यं तदा श्रमोऽस्तु परिपोषकः । श्रमजन्ये

करणैरिन्द्रियैः प्रणयः स्नेहः । अन्यासामसंभवादाह—**तत्तत्प्रेति** । चाक्षुषादिरूपाखिल्यर्थः । **चाक्षुषादेरिति** । सामान्येनेति भावः । **प्रकारेति** । तत्तत्प्रकारेणेत्यर्थः । अत एव बाहुल्येन । अत एव सर्वथाऽत्यागादेव । अस्यालस्यस्य तुल्यत्वेऽपि ग्लान्यादाविति शेषः । यथासंख्यमन्वयः । पारयामि शक्नोमि । आयसी लोहमयी । रसज्ञा जिह्वा । **प्रियेति** । प्रियस्यागमनं यस्मिन्दिने ततो द्वितीयेत्यर्थः । जडतातो भेदान्तरमाह—**जडेति** । वाशब्दश्चार्थे । अत्रालस्ये । **कथाभिरित्यविवक्षितेति** । कथाभिरिति

---

१ येन प्रकारेण यच्चाक्षुषादिप्रत्यक्षं भवति तेन प्रकारविशेषेण न भवति । सम्यग्रूपेणाजननमित्याशयः ।

२ ग्लानौ असामर्थ्यम्, जडतायां च कर्तव्यप्रतिसन्धानाभावः, अतएव द्वयोरपेक्षया आलस्ये भेद इत्यर्थः ।

३ कथाहेतुना जागरिता । कथाद्वारा शिक्षिता वा ।

ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात् । अतितृष्ण्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद्विविक्तविषयत्वं बोध्यम् ।

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ॥

इमामेवासहनादिशब्दैर्व्यवहरन्ति ।

यथा—

'कुत्र शैवं धनुरिदं क्व चायं प्राकृतः शिशुः ।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः ॥'

एषा भग्नहरकार्मुकस्य भगवतो रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः । अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः । प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दानुभावः ।

'तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे
मौनं मुञ्चति किं च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः ? ॥'

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलतादिदर्शनजन्या अनुचितकारित्वरूपनिन्दाप्रकाशानुभाविता कविगता विधात्रालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शबलि-

---

सुरतपरं तत्त्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकम् । अतिश्रमयुक्तत्वं व्यङ्ग्यम् । श्रम इत्यस्य व्यङ्ग्येत्यादिः । परिपोषक इत्यनेन श्रमध्वनित्वं निरस्तम् । ननु तस्य तत्त्वे प्रकृते गौरवमत आह—**श्रमेति** । नन्वेवं सर्वत्र तत्सत्त्वेन विभावभेदोक्तिरयुक्तात आह—**अतीति** । **प्राकृत इति** । क्षत्रियोद्भव इत्यर्थः । तत्रत्यानां सीतापरिणयनार्थं जनकगृहे समागतानां सदस्युपविष्टानाम् । **शिशुपदेति** । एतदुभयपदेत्यर्थः । तृष्णालोलेत्युदाहरणदाने बीजं कथयितुमाह—**तृष्णेति** । कलयतीत्यादि सप्तम्यन्तम् । कलयति चन्द्रिकापानार्थं स्वीकुर्वति । चकोरव्रजे तत्समूहे । कुलं समूहः । धुन्वति टंकारयति । विधौ चन्द्रे । **धाराधरेति** । मेघाच्छादनमित्यर्थः । **तदीयेति** । धात्रीयेत्यर्थः । प्रकाशेत्यनेन तस्या वाच्यत्वं सूचितम् । **वक्तुमिति** । तथा चेदमप्यस्या उदाहरणमिति भावः । **कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादिति** । असूयाकार्यकारणयोरिवामर्षकार्यकारणयोरपि विद्यमानत्वा-

तैवासौ न विविक्तया प्रतीयते । नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति येन कवेरिव वीराणामप्यमर्षोऽभिव्यज्येत । स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम् । अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननान्नास्त्यसूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम् । एकध्वनेर्ध्वन्यन्तराविरोधित्वात्[2] । अन्यथा महावाक्यध्वनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं कुत्रापि न स्यात् ।

वियोगशोकभयजुगुप्सादीनामतिशयाद्रूहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ॥

व्याधित्वेनास्य कथनेऽपि विशेषाकारेण पुनः कथनं बीभत्सभयानकयोरस्यैव व्याधेरङ्गत्वं नान्यस्येति स्फोरणाय । विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च ।

उदाहरणम्—

'हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम् ।
कम्पमानः श्वसन्कंसो निपपात महीतले ॥'

अत्र भयं विभावः । कम्पनिःश्वासपतनादयोऽनुभावाः ।

अमर्षादिजन्यवाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ॥

दित्यर्थः । असौ असूया प्रतीयत इत्यत्रान्वयः । एवव्यवच्छेद्यमाह—**नेति** । भेदेनेत्यर्थः । अत इदं नोदाहृतमिति भावः । ननु पूर्वोदाहरणेऽपि शबलितत्वमत आह—**नहीति** । ननु रामस्य कुतो नापराधोऽत आह—**स्वभावो हीति** । अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रेति मतं निराचष्टे—**अत्राप्रेति** । तेषां च अवान्तरवाक्यध्वनीनां च । अस्य अपस्मारस्य । **विशेषेति** । अपस्मारत्वेनेत्यर्थः । बीभत्सेत्याद्युक्तिस्वारस्यमाह—**विप्रेति** । अस्यापि च अपस्मारस्यापि । अङ्गत्वमित्यस्यानुषङ्गः । कम्पमानः श्वसन्निति ।

---

१ पूर्वोदाहरणे (कुत्र शैवम्०) रामस्यापराधो नास्तीति वीरकृतेन अमर्षेण अमिश्रिताऽसूया । तृष्णेत्युदाहरणे तु धातुरपराधेन कवेरमर्ष इति अमर्षशबलिताऽसूयेति द्वयोर्भेदः ।

२ द्वयोर्ध्वन्योः संकर इति भावः ।

यदाहुः—

'अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः ।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावस्तु भर्त्सनम् ॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने ।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते ॥' इति ।

उदाहरणम्—

'अहितव्रत पापात्मन्नैवं मे दर्शयाननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि येन त्वमसि भावितः ॥'

एषा भगवदनुरक्तिविघटनोपायमपश्यतः प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपोरुक्तिः । भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः । आत्मवधेच्छा परुषवचनं चानुभावः । न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम् । सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसंभृतत्वेनात्मवधेच्छाया इदंप्रथमतानुपपत्तेः । इदंप्रथमकार्यस्य चेदंप्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणाया एव चपलताख्यचित्तवृत्तेः सिद्धेः । न चामर्षप्रकर्ष एवात्मवधेच्छादिकारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम् । प्रकर्षस्यापि स्वाभाविकविलक्षणलक्षणताया[1] आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात् ।

नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेपव्याधिताडनदारिद्र्येष्टविरहपरसंपद्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयद्वेषाख्या रोदन-दीर्घश्वासदीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ॥

श्वासजन्यकम्पवानित्यर्थः । **च मत्सर इति** । मत्सरश्चेत्यर्थः । **अहितेति** । न हितं व्रतं भगवदनुरक्तिरूपं यस्य तत्संबुद्धिः । अत एव पापात्मन्प्रह्लाद । **भावित इति** । उत्पादित इत्यर्थः । **अवज्ञादिभिरिति** । आदिना विरहादयः ।

---

१ स्वाभाविकरूपाद्विलक्षणं लक्षणं यस्य तत्ता । प्रकर्षे सति वस्तुनः पूर्वसिद्धाद्रूपाद्वैचित्र्यमवश्यं भवत्येव । ततश्च अमर्षाद्भिन्नो यः प्रकृष्टामर्षस्तस्यैव नाम चपलतेत्याशयः ।

उदाहरणम्—

'यदि लक्ष्मण सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम् ॥'

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावान्नासौ रसव्यपदेशहेतुः।

देवादिविषया रतिर्यथा—

'भवद्वारि क्रुध्यज्जयविजयदण्डाहतिदल-
त्किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया[1]
वराकाः के तत्र क्षपितमुर नाकाधिपतयः[2] ॥'

अत्रापमानसहनभगवद्वारनिषेवणभगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मादिगता भगवदालम्बना रतिर्नाभिव्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति[3] चेत्तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया कविगतभगवदालम्बनरत्या[4] ध्वनित्वमक्षतमेव।

इदं वोदाहरणम्—

'न धनं न च राज्यसंपदं नहि विद्यामिदमेकमर्थये।
मयि धेहि मनागपि प्रभो करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ॥'

यदीति। भगवतो रामस्येयमुक्तिः। सा सीता। **जडेति**। अचेतनजीवितेनेत्यर्थः। विफलेन विरुद्धफलेन। नन्वत्र निर्वेदस्थायिकशान्तरसध्वनित्वमेवात आह—**नित्येति**। असौ निर्वेदः। **भवदिति**। विष्णुं प्रति भक्तोक्तिः। हे क्षपितमुर मुरजित्, जयविजयौ द्वारपालौ। ते अनिर्वचनीयप्रभावास्ते भवद्वारि भवन्नेत्रपातोत्कण्ठया कीटा इव वितिष्ठन्त इत्यन्वयः। वराका दीनाः। **नाभिव्यज्यत इति**। धनाद्यभिलाषेणापि तदुपपत्तेरिति भावः। इतीत्यस्याभिव्यज्यत इत्यत्रानुषङ्गः। चेत् यद्यपि। नन्वस्या अप्राधान्येन कथं तत्त्वमत आह—**इदं वेति**। अस्य भावस्य। अन्तर्भावे हेतुमाह—

---

१ नयनयोर्यः परितः पातः, सम्यङ् निरीक्षणमित्यर्थः, तदुत्कलिकया तल्लालसाराभस्येन। वितिष्ठन्ते, अर्थित्वादन्यापेक्षया विशिष्टप्रकारेण तिष्ठन्ति।

२ महेन्द्रस्य पूर्वमुक्तत्वादत्र नाकभागस्याधिपतयः कुबेरादयोऽन्ये ग्राह्याः।

३ इति वस्त्वभिव्यज्यते। ततश्च नासौ भावध्वनिरिति शङ्का। ऐश्वर्यवर्णनानुभावेन कविगता भगवद्रतिरभिव्यज्यत इति समाधानम्।

४ ननु रतिरप्रधानम्। ऐश्वर्यवर्णनमेव प्रधानम्, अत एव रतिभावस्योदाहरणान्तर दत्तमित्याशयः।

अत्र धनाद्यपेक्षाशून्यस्य भगवद्गन्तपाताभिलाषो हि भगवत्यत्यन्तानुरक्तिं व्यनक्ति । एवं संक्षेपेण निरूपिता भावाः ॥

अथ कथमस्य संख्यानियमः । मात्सर्योद्वेगदम्भेर्ष्याविवेकनिर्णयक्लैब्यक्षमाकुतुकोत्कण्ठाविनयसंशयधार्ष्ट्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनात् इति चेत्, न । उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेन संख्यान्तरानुपपत्तेः । असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद्भावाद्दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्विवेकनिर्णययोः, दैन्यात्क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात्कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात्संशयस्य, चापलाद्धार्ष्ट्यस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि नान्तरीयकतया[1] तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात् । मुनिवचनानुपालनस्य संभव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् । एषु च संचारिभावेषु मध्ये केचन केषांचन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति । तथा हि—ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम् । चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम् ।

अथ रसाभासः—तत्र

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ॥[2]

विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम् । यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति केचिदाहुः । तदपरे न क्षमन्ते । मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात् । तत्र विभावगतस्यानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः । इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति । अनौचित्यं च प्राग्वदेव । तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वाऽसूयात इति । ननु सूक्ष्मभेदप्रयुक्तभेदः कुतो नात आह—**मुनीति** । संचारीति षष्ठ्यर्थे सप्तमी । तत्र निरूपणीये रसाभासे । यत्र विभावादौ । तेषां लोकानाम् । आदिना गुरुपत्न्यादिसंग्रहः । तत्र तयोः । **तस्मादिति** । तथा चानुचितविभावालम्बनकरतित्वं तत्त्वं ज्ञेयम् । आदिना हासादिपरिग्रहः । इत्थं च तथाविशेषणे च । इतिरपरमतसमाप्तौ

१ नित्यसंबद्धतया तदभिन्नस्वरूपस्यैव (भावस्य) निश्चयात् । अर्थाद् यत्र मात्सर्यं भवेत्तत्राऽसूयाऽप्यवश्यमेवोपलभ्येत । ततश्चानयोरभेदस्वीकार एव समुचितो न तु मुनिवचनेभ्य उच्छृङ्खलता । एवं त्रासोद्वेगादिष्वपि बोद्धव्यम् ।

२ अनेन हि अनुचितविभावालम्बना, स्वयमनुचिता च रतिर्विवक्षिता । अनुचितप्रवृत्तस्थायिकत्वं रसाभासत्वमिति तु सरलम् ।

दिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसादित्वात्, हेत्वाभासत्वमिव[1] हेतुत्वेन इत्येके । 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभास-व्यवहारः । अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे ।

उदाहरणम्—

'शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने ।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम् ॥'

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजरमणी । रहोरजन्याद्युद्दीपनम् । साह-सेन राजान्तःपुरे गमनम्, प्राणेषूपेक्षा, निःश्वासाश्लेषादयश्चानुभावाः । शङ्कादयः संचारिणः । निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेराभासत्वं रसस्य । न चात्र चकितनयनामित्यनेन परपुरुषस्पर्शत्रासाभिव्यक्त्या रतेरनुभयनिष्ठते-त्याभासताहेतुर्वाच्यः । अस्याश्च चिराय तस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपु-रुषागमनस्यात्यन्तमसंभावनया क एष मां बोधयतीत्यादावुचित एव त्रासः[2] । अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या सोऽयं मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणीकृत्यागत इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्यञ्जयत्स्मेरवदनामिति विशेषणं

चस्त्वर्थे । तत्र रसाभासेषु । आदिना भावपरिग्रहः । निर्मलस्य निर्दुष्टस्य । हेतुत्वेने-त्यस्य न समानाधिकरणमित्यस्यानुषङ्गः । नन्वत्र मते दुष्टो हेतुरितिवद्दुष्टो रस इत्या-दिव्यवहारानुपपत्तिरतो मतान्तरमाह—**नहीति** । आत्महानिः स्वरूपहानिः । **अश्वा-भासेति** । अश्व इति भावः । **सौधेति** । सुधानिर्मितराजगृहोपरितनप्रदेशमित्यर्थः । फेनस्यात्यन्तस्वच्छत्वादुक्तिः । पुष्पशयने पुष्पशय्यायाम् । अहहेति शङ्कायाम् । **अनु-चितेति** । अनुचितः प्रणयो यस्यामित्यर्थः । यस्या इति वा । इदमाद्योदाहरणमित्याह— **निषिद्धेति** । अस्या नायकनिष्ठायाः । परेत्यस्य विबोध्येति । बोधितेत्यादिः । **स्पर्शेति** । स्पर्शकृतत्रासेत्यर्थः । **अनुभयेति** । नायके सत्त्वेऽपि नायिकायामभावादिति भावः । **हेतुरिति** । तथा च तृतीयोदाहरणमेतन्नाद्यस्येति भावः । समाधत्ते—**अस्या-श्चेति** । चो यत इत्यर्थे । व्यनक्तीत्यत्रास्यान्वयः । **रतिमिति** । नायिकासंबन्धिनीं

---

१ हेत्वाभासत्वं यथा हेतुत्वेन, तथा रसाद्याभासत्वं रसत्वेन न समानाधिकरणम् । अर्थात् यत्र हेत्वाभासत्वं भवति तत्र यथा हेतुत्वं न, तथा यत्र रसाभासत्वं तत्र रसत्वं न तिष्ठतीत्याशयः ।

२ निद्रातः सहसा जागरणात् 'कोयं मां बोधयती'त्येव त्रासः, न तु परपुरुषबुद्ध्या । अतो नाऽनुभयनिष्ठताऽवसर इत्यर्थः ।

रतिं तदीयामपि व्यनक्ति । परं तु प्राधान्यं नायकनिष्ठाया एव रतेः, सकलवाक्यार्थत्वात् ।

यथा वा—

'भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु ।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयांबभूव ॥'

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्यमानायाः कस्याश्चिद्भवनप्रवेशसमये निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय गमनाज्ञापनरूपलाभलालसेषु तेषु परमपरिश्रमस्मरणसंजातकरुणाया गमनाज्ञादाननिवेदकस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्यानुभावस्य वर्णनाद्-भिव्यज्यमाना रतिर्बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः ।

रतिमपीत्यर्थः । हर्षसमुच्चायकोऽपिः । नन्वेवं विनिगमनाविरहोऽत आह—**परं त्विति** । नायिकानिष्ठा तु स्मेरेति पदमात्रव्यङ्ग्यत्वान्न वाक्यार्थः । तथा चाद्योदाहरणतास्य सुस्थेति भावः । द्वितीयोदाहरणमाह—**यथा वेति** । भवनं स्वगृहम् । विज्ञानाय तदङ्गीकाराय । तेषु तरुणेषु । करुणायामन्वयः । परमेत्यस्य तरुणसंबन्धीत्यादिः । **बहुरिति** । तरुणेष्विति

---

१ ग्रन्थकर्तुर्विरुद्धमिदम् । 'तदीयामपि रतिम्' अर्थात् नायिकाया अपि रतिमिति वदता ग्रन्थकृता अपिना नायिकाया रतिः समुच्चीयते । अर्थात् उपायशतेन सौधशिखरमारोढुर्नायकस्य रतिस्तु सुस्फुटैव, परं स्मेरवदनाया नायिकाया अपि रतिरस्त्येवेति । स्फुटं चेदमुचितम् । पूर्वपक्षिणा—परपुरुषत्रासाभिव्यञ्जकेन चकितनयनामिति विशेषणेन नायिका या रत्यभावो यदा शङ्क्यते तदा तत्समाधाने 'तदीयामपि रतिम्' अत्र स्पष्टं नायिकाया एव रतिर्ग्रहीतुमुचितैव ।

नागेशमहोदयस्तु—'तदीयामपि रतिम्' (नायिकासंबन्धिनीमपि रतिम्) इति स्फुटं वदन्तं ग्रन्थकारं पराभूय 'रतिमपि' इत्यर्थं वदन् हर्षसमुच्चायकमाह । अर्थात् 'नायिकाया रतिमभिव्यनक्ति, हर्षमपि' इति । ग्रन्थस्वारस्यं कियदूरं गलहस्तितमिति मर्मविदो विदुरेव । 'हर्षमभिव्यञ्जयत्' इति मूलोक्तस्फुटोक्तावपि न टीकाकर्तुर्दृष्टिरिति हन्त ! ! एवमेव स्थाने स्थाने साहित्यमार्मिकत्वमभिनीतं नागेन, किन्तु क्वचित्क्वचिदेव निदर्शितमित्यलं प्राचां वाचां विचारेण ।

यथा वा—

'भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण[1] वधूः।
तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ॥'

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्।

तथा चोक्तम्—

'उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥' इति।

अत्र मुनिगुरुशब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम्।

अथात्र किं व्यङ्ग्यम्—

'व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥'

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततया अलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरौत्सुक्यं च व्यञ्जयन्तीभिर्दृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः। तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाराभासोऽपि द्विविधः, संयोगविप्रलम्भभेदात्। संयोगाभासस्त्वनुपदमेवोदाहृतः।

बहिरर्थः। तृतीयोदाहरणमाह—**यथा वेति**। भुजेति रूपकम्। **उपेति**। आभासत्वमिति शेषः। प्रथमोदाहरणसंग्रहायाह— **अत्रेति**। अत्र वक्ष्यमाणोदाहरणे किं रसो वा तदाभासो वेत्यर्थः। स्फारिता विस्तृताः। प्रथमा इत्यनेन पूर्वं दर्शनाभावः सूचितः। सभक्तित्वमित्यादिद्वितीयान्तानां व्यञ्जयन्तीभिरित्यनेनान्वयः। भास एवेत्यस्य व्यङ्ग्य इति शेषः। एवेन रसव्यवच्छेदः। **प्राञ्चस्त्विति**। अत्रारुचिबीजं तु रत्यनौचित्यस्यापरिणीते इवात्रापि सत्त्वम्। नहि लक्षणे तथा निवेशोऽस्तीति। तत्र रसाभासानां

---

१ भामिनीविलासे तु 'वरेण रहसि वधूः' इति पाठो दृष्टः। काशीमुद्रितरसगङ्गाधरे तु रहसिपदमित उद्धीय 'भवत्ययमपि रहसि रसाभासः' इति उपरिपङ्क्तौ गतम्।

विप्रलम्भाभासो यथा—

'व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन्विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त लङ्केश्वरः ॥'[1]

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया जगद्गुरुपत्नीविषयकतया चाभासतां गता, व्यत्यस्तं लपतीत्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्मादश्रममोहचिन्ताव्याधिभिस्तथैवाभासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः । एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्यकातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसासृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः । विस्तृतिभयाच्चामी नेहोदाहृताः सुधीभिरुन्नेयाः । एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

यथा—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥'

मध्ये । एकं क्षणमिति पूर्वान्वयि । अपरमुत्तरान्वयि । ननु सीतायास्तदभावेऽपि लङ्केशे तत्सत्त्वमत आह—**जगदिति** । **उक्तिभिरिति** । यथाक्रममिति शेषः । तथैव जगद्गुरुपत्नीविषयकतयैव । **प्राधान्येनेति** । तथा च न तद्भावाभासध्वनित्वमिति भावः । **कलहशीलेति** । अवीतरागादिविषयमिदम् । अत एवाह—**वीतेति** । कदर्यो निन्द्यः । कातरो भीतः । एवमेव रसाभासत्वेव । खेदकलिता खेदव्याप्ता । विनिगम-

---

१ व्यत्यस्तलापेन उन्मादः, मौनेन श्रमः, निरालम्बनदृष्ट्या मोहः, दीर्घश्वासैश्चिन्ता, अङ्गानामधृत्या च व्याधिः, उदाहरणे व्यज्यत इति बोध्यम् । अनुचितस्थले प्रवृत्ता व्यभिचारिणोऽप्याभासा भवन्तीत्यपि ग्रन्थकर्त्रा सूचितमनेन ।

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्यान्यस्य वा कस्यचिदप्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः । अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां सत्कचन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां विद्यायां च कृतघ्नत्वम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकवपुः[1] स्मृतिमेव पुष्णातीति सैव प्रधानम् । एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्वं व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमापि[2] । एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः । यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिस्तदा भावध्वनिरेव ॥

अथ भावशान्तिः—

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ॥

स चोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात् ।

उदाहरणम्—

'मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि मुदिरालिरुदियाय ।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥'

इह तादृशप्रियवचनश्रवणं विभावः । नयनकोणगतशोणरुचेर्नाशः, तदभिव्यक्तः प्रसादो वानुभावः । उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोषनाशो व्यङ्ग्यः । तथा—

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ॥

नाविरहादाह—**अन्यस्येति** । अत्र च स्वात्मत्यागेति विषयविद्योभयकर्तृकस्वत्यागेन विषयविद्ययोः कृतघ्नत्वम्, नायिकाकर्तृकस्वीयात्यागेन चास्यां नायिकायां लोकोत्तरत्वमित्यर्थः । एवं स्मृतिमेव पुष्यतीत्यर्थः । स च नाशश्चोत्पत्त्यवच्छिन्न एवोत्पत्तिकालावच्छिन्न एव । मुदिरालिर्मेघपङ्क्तिः । नाशस्य साक्षात्तत्कार्यलाभावादाह—**तदभीति** ।

---

१ चिरसेवनेपि विमुखे विषय-विद्ये कृतघ्ने, तदपेक्षया न्यूनकालाऽभिध्यानेऽपि सर्वदानुगामिनी भामिनी तु लोकोत्तरकृतज्ञेति व्यज्यमानोऽपि व्यतिरेकालंकारः स्मृतिभावपोषकतया अप्राधान्यान्न ध्वनित्वव्यपदेशहेतुरित्यर्थः ।

२ तत्तद्वस्तुनोऽधिष्ठात्री देवता यथा न जातु तत्परित्यजति, तथा सेयमपि मृगलोचना अकृतमद्दृदयमोचनास्तीति उपमालंकारेणापि नास्य काव्यस्य व्यपदेशः, उपमाया अपि प्रधानस्मृतेरेव प्रसाधकत्वादित्याशयः ।

उदाहरणम्—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥'

अत्रापि दयितवक्षोगतविपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभावः । प्रियांसदेशवलयीकृतनिजबाहुलताकर्षणमनुभावः । रोषोदयो व्यङ्ग्यः । यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्यकत्वान्नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य अस्ति विषयविभागः ।

एवम्—

भावसंधिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम् ॥

उदाहरणम्—

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्कितैः[2] शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः ।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः ॥'

अत्र भगवद्दाशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्यादेश्च दर्शनं विभावः । नयनगतसंकोचविकासावनुभावः । व्रीडौत्सुक्ययोः संधिर्व्यङ्ग्यः ।

ननु ततः किमत आह—**चमत्कारेति** । एवं च यत्कृतो यत्र चमत्कारस्तत्र तद्व्यवहार इति भावः । **सामानाधिकरण्यमिति** । एकदेशवृत्तित्वविशिष्टैककालवृत्तित्वरूपमित्यर्थः । सूक्ष्मभेदस्त्वकिंचित्कर इति भावः । शबलतायां त्वेकदेशवृत्तित्वरूपमेव

---

१ यौ भावौ परस्परस्याभिभवयोग्यतां धारयतो न च परस्परमभिभूतौ (अनरुद्धान्योन्यचमत्कारौ), तयोरेकस्मिन् स्थले एकस्मिंश्च कालेऽभिव्यक्तिर्भावसन्धिरित्याशयः । परस्पराभिभूतयोर्भावयोः सन्धौ द्वयोरेव न चमत्कारः, उदासीनयोः (परस्पराभिभवयोग्यताविरहितयोः) अभिव्यक्तौ न सन्धिकृतो विशिष्टश्चमत्कार इति तथाविशेषणदानस्याकूतम् ।

२ वयःसन्धिमारूढाया अनूढायाः सीताया यौवनोद्गमवन्तं भगवन्तं दृष्ट्वा प्रथमवयःस्वाभाव्याच्छङ्केति संकेतः ।

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ॥

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

उदाहरणम्—

'पापं हन्त मया हतेन विहितं सीतापि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना बत वने किं जीवितं धास्यति ।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति मां
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं न प्राणितुं कामये ॥'

अत्र मत्सूयाविषादस्मृतिवितर्कव्रीडाशङ्कानिर्वेदानां प्रागुक्तस्वस्वविभावजन्मनां शबलता । यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारैः 'उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता' इत्यभ्यधीयत, तन्न । 'पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः कासि यासि' इत्यत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यमत्यौत्सुक्यानामुपमर्दलेशशून्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन पञ्चमोल्लासे मूलकृतैव निरूपणात् । स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, न वोपमर्दपदवाच्यः,

---

सामानाधिकरण्यमिति विशेषः । तादृशस्यैव लोकोत्तरस्यैव । **एकेति** । एकं यत्तादृशं ज्ञानं महावाक्यार्थबोधस्तद्विषयत्वमित्यर्थः । **पापमिति** । अत्र पापमित्यनेन मतिः, हतेत्यादिनासूया, सीतापीत्यादिना विषादः, सेत्यनेन स्मृतिः, मामित्यादिना वितर्कः, आलोकेयेत्यादिना व्रीडा, किं त इत्यादिना शङ्का, राज्यमित्यादिना निर्वेदः, इति बोध्यम् । पश्येत्कश्चिदीति शङ्का । चल चपल रे इत्यसूया । का त्वरेति धृतिः । अहं कुमारीति स्मृतिः । हस्तालम्बं वितरेति श्रमः । हहहेति दैन्यम् । व्युत्क्रम इति दैन्यम् । कासीति मतिः । यासीत्यौत्सुक्यम् । **औत्सुक्यानामिति** । मध्ये पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरेणेति

---

१ स्वस्वाभिव्यञ्जकैः पृथग्वाक्यैरभिव्यङ्ग्यानामपि तत्तद्भावानां चमत्कारजनके एकस्मिन्महावाक्यार्थबोधे सहृदयानुभवविषयत्वमित्याशयः ।

२ चित्तवृत्तिरूपा अमी भावा नैयायिकानां नये इच्छादिषु विशेषगुणेष्वेव समाविष्टाः स्युः । तन्नये च पूर्वभावस्य नाशे सत्येव भावान्तरस्योदयः स्यात्ततश्च कथमेककाले नानाभावानुभवरूपा सेयं शबलतेति शङ्का । ईदृशो नाशो व्यङ्ग्य एव कथं भवेत् [उत्तरेणोपमर्दावस्थायां, हृदयेऽप्रतिफलनात्] । न चायमुपमर्दपदेनाभिधातुं शक्य इत्यादिकं समाधानम् ।

नापि चमत्कारी तस्मात् ।

'नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे ।
विलक्षणो यथास्वादो भावानां संहतौ[1] तथा ॥'

अत्रेदं बोध्यम्—य एते भावशान्त्युदयसंधिशबलताध्वनय उदाहृतास्तेऽपि भावध्वनय एव । विद्यमानतया[2] चर्व्यमाणेष्विवोत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-संधीयमानत्व-परस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः । यद्यप्युत्पत्तिविनाशसंधिशबलतानां[3] तत्संबन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणाविषयतायां न प्राधान्यं विनिगन्तुं[4] शक्यते, तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायाः कृप्तत्वात्, भावशान्त्यादिष्वपि-तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वा[5]दिभिर्व्यज्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात् । किं च यदि भावशान्त्यादौ

शेषः । मूलकृतैव प्रकाशकृतैव । तत्त्वेऽप्याह—**न वेति** । तत्त्वेऽप्याह—**नापीति** । अत्र च सहृदयहृदयमेव प्रमाणमिति भावः । उपसंहरति—**तस्मादिति** । चूर्णिकेयम् । संहतौ मिश्रणे । **भावशान्त्युदेति** । भावसंबन्धिशान्त्यादीनां ध्वनय इत्यर्थः । स्थितौ तद्विषये । तेष्वेव भावेष्वेव । तस्याः प्रधानतायाः । ननु तत्र तत्कृतश्चमत्कारः, अत्र त्वेतत्कृत इति वैषम्यमत आह—**किं चेति** । सामान्येनोक्तमर्थं विशिष्योपपादयति—

---

१ अन्यपदार्थस्याऽऽस्वादमनुपमृद्नन्तो नारिकेलजलादयः पदार्था मिश्रणे सति विलक्षणमास्वादं यथोपजनयन्ति तथा पृथक्पृथगभिव्यज्यमाना अप्यमी भावा महावाक्यार्थबोधे संमिलितमपूर्वं चमत्कारमुपजनयन्तीत्याशयः ।

२ भावध्वनिषु (यत्र हि विद्यमानत्वावस्थापन्नो भावो भवति, तेषु) भावस्यैव प्राधान्यं दृश्यते, न विद्यमानत्वाऽवस्थायाः, तदनुसारमव्यपदेशात् । एवमेव भावोदय–भावशान्त्यादिष्वपि उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व–विनश्यदवस्थत्वादीनां प्रकाराणाम् (अवस्थानाम्) न प्राधान्यमुचितम्, अपि तु भावानामेवेत्याशयः ।

३ भावोदय–भावशान्त्यादिस्थले ।

४ उत्पत्ति–विनाशावस्थानां तत्संसृष्टानां भावानां च मध्ये कतरस्य प्राधान्यमिति निर्धारयितुं न शक्यत इत्यर्थः ॥

५ शान्तिप्रतियोगित्वादिभिः प्रकारैः (यस्य भावस्य शान्तिर्भवति स प्रतियोगी । यथा 'मुञ्चसि नाद्यापीति' पद्ये कोपस्य शान्तिः) चर्वणाविषयीकृतेषु तेषु भावेष्वेव प्रधानतायाः कल्पयितुमौचित्यम् ।

भावो न प्रधानम्, किं तु तदुपसर्जनैकशान्त्यादिरेवेत्यभ्युपेयते[1] तदा व्यज्यमानभावेष्वभिहिततत्प्रशमादिषु[2] काव्येषु भावप्रशमादिध्वनित्वं न स्यात्।

तथा हि।

'उषसि प्रतिपक्षनायिकासदनादन्तिकमञ्चति प्रिये।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयारुणद्युतिः॥'

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात्। (ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद्ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वे[3]ऽप्रधानकृतव्यपदेशानुपपत्तेः। अस्मन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नस्यामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद्युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः।

एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य[4] प्रशमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात्।

यथा—

'क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये।
शेमुः सरोजनयनानयनारुणकान्तयः॥'

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयात् अरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य रोष-

---

तथा हीति। अञ्चतीति सप्तमी। उत्पूर्वकेणैतिनेति। उदुपसर्गपूर्वकेणेण्धातुनेत्यर्थः। शङ्कते—उदयेति। अनौपयिकत्वेऽप्रधानेत्यत्राकारप्रश्लेषः। उदयस्थले दोषं दत्त्वा शान्तिस्थले तमाह—एवमिति। एकपदयोरसाधारणस्थानयोः। पततीति सप्तमी। उभयत्र शङ्कते—नन्विति। वाच्यान्वयेति। सकलपदानामिति शेषः।

---

१ सः (भावः) उपसर्जनं गौणो यस्मिन्नीदृशः शान्त्यादिरेव प्रधानमिति अभ्युपेयते स्वीक्रियते।

२ व्यज्यमानो भावो येषु, अभिहितश्च तत्प्रशमादिर्येषु काव्येषु। अर्थात् येषु काव्येषु भावो व्यञ्जनया गम्यः प्रशमादिस्तु अभिधया तेषु।

३ भवन्मते प्रधानं य उदयादिस्तस्य व्यपदेशार्थं (ध्वनित्वस्थापनार्थम्) अनुपयोगित्वे (अनर्हत्वे) अप्रधानकृतो व्यपदेशो नोपपद्यत इत्यर्थः।

४ व्यज्यमानो भावः प्रतियोगी यस्य, अर्थात् यस्य प्रशमो वाच्यः स भावो व्यङ्ग्यः, प्रशमस्तु वाच्य इत्यर्थः।

प्रशमादेः, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात् । न चारुण्यव्यङ्ग्यरोषस्यैव वाच्यीभूतप्रशमाद्यन्वय इति वाच्यम् । वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया वाच्यान्वयबोधवेलायां वाच्यैः सह व्यङ्ग्यान्वयानुपपत्तेः । अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयोः' इत्यस्यान्वयो न स्यात्[1] । मैवम् । एवमपि—

'निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः ।
चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव ॥'

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रशमस्य व्यङ्ग्यत्वात् । उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्त-पद्यद्वये शमत्वोदयत्वाभ्यां शमोदययोर्वाच्यत्वादनुदाहरणत्वापत्तेः । इष्टा-पत्तिस्तु सहृदयानामनुचितैव । तस्माद्भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावा-नामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादेस्तूपसर्जनत्वमतो न तस्य वाच्यतादोषः ।

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये

वाच्यैः प्रशमादिभिः । **व्यङ्ग्यान्वयेति** । आरुण्यव्यङ्ग्यरोषान्वयेत्यर्थः । अन्यथा तदङ्गीकारे । न स्यात्, रोषोदये सुदृक्त्वस्य बाधात् । तथा च रोषप्रशमादिध्वनित्वं सुस्थमिति भावः । निर्वासयन्तीं दूरीकुर्वतीम् । मांसलः पुष्टः । क्षणप्राघुणिकोऽतिथिः । शङ्कते—**उभयोरपीति** । एवमेव उक्तदोषद्वयाभावेऽपि । प्रधानाप्रधानयोरपीत्यर्थः । पद्यद्वये 'उषसि–' 'क्षमाप–' इत्यत्रेत्यर्थः । **सहृदयानामिति** । अत्र शास्त्रे तेषामेव मुख्यप्रमाणत्वेनोरीकारादिति भावः । अपिर्भावस्थितिसमुच्चायकः । नन्वेवं वैलक्षण्याना-पत्त्या भेदेनोक्त्यसंगत्यापत्तिरत आह—**इदं पुनरिति** । यदेकत्र शुद्धभावध्वनौ ।

---

१ 'ननु' इत्यारभ्य'–'सुदृशो नयनाब्जकोणयोः' इत्यस्यान्वयो न स्यात्' एतत्पर्यन्तं प्रशमादिप्राधान्यवादिनः पूर्वपक्षिण उक्तिः । सर्वस्य निर्गलितः सारस्त्वयम्—

शेमुः इतिपदेन अरुणकान्तेः प्रशम एव वाच्यो जातो न त्वरुणकान्तिप्रशमेन व्यङ्ग्यः कोपरूपभावस्य प्रशमः । ननु 'शेमुः' इत्यनेन आरुण्यव्यङ्ग्यस्य रोषस्यैवान्वयादभिधेयता विवक्षितेति तु न शक्यं वक्तुम् । वाच्योत्तरमेव व्यङ्ग्यस्य प्रतीतिर्भवतीति क्रमः । ततश्च वाच्यान्वयसमये व्यङ्ग्यस्य बोध एव न पर्यवसीयते । कथं तेन सहान्वयः ? एवं च क्षमापणै-केत्युदाहरणं प्रशमस्य वाच्यतया ध्वनित्वोदाहरणं न स्यादिति योऽयमस्मत्पक्षे दोषो दत्तः स न सिध्यति । 'रोषप्रशमस्याऽवाच्यत्वेन ध्वनेरेवेदमुदाहरणम्', इति पूर्वपक्षिण उक्तौ, मैवम् इत्यादिना सिद्धान्तिनः समवतरणम् ।

निदानम्—यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्[1], अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थत्वादिरपीति। रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात्प्रशमादेरसंभवः, संभवे वा न चमत्कारः, इति न स विचार्यते।

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रत्यादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटे प्रकरणे झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु सहृदयतमेन प्रमात्रा सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति। यथा—'तल्पगतापि च सुतनुः' इति प्रागुदाहृते (१४ पृष्ठे) पद्ये 'संप्रति' इत्येतदर्थावगतिर्विलम्बेन[2]। न खलु धर्मिग्राहकमानसिद्धं रत्यादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्[3]। अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

"एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इत्यत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योपपत्त्या मनाग्विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं व्रीडा-

---

विशेषणस्याव्यावर्तकत्वाद्विशेष्यमात्रकृतचमत्काराच्चाह—**अमर्षादित्वमेव वेति**। अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनौ। इतिर्निदानसमाप्तौ। ननु भावशान्त्यादिवद्रसशान्त्यादिः कुतो नोदाहृतोऽत आह—**रसस्येति। असंभव इति**। तत्त्वे स्थायित्वानुपपत्तेरिति भावः। नन्वभिव्यक्तिनाशादिरेव प्रशमादिरत आह—**संभवे वेति**। रत्यादिलक्षणो रत्यादिस्वरूपः। समयेन कालेन। **हेत्विति**। विभावादिरत्यादैरित्यर्थः। प्रकरणस्य स्फुटत्वेऽप्याह—**उन्नेया वेति**। अत एव तन्मात्रत्वाभावादेव। अस्योभयत्रान्वयः।

---

१ भावध्वनौ—स्थित्यवस्थापन्नामर्षादित्वस्य, केवलामर्षादित्वस्य वा प्रकारतया चर्वणा भवति, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु भावत्वेन सह प्रशमावस्थापन्नत्वस्यापि। अर्थात् भावध्वनौ अमर्षादिकृतचमत्कार एवास्वादनीयो भवति, भावशान्त्यादिषु तु भावैः सह प्रशमोदयादिकृतश्चमत्कारोप्यास्वादनीयो भवतीत्याशयः।

२ एतत्स्पष्टीकरणं तल्पगतेतिपद्य (१४ पृष्ठे) टिप्पण्यां द्रष्टव्यम्।

३ धर्मिणो ग्राहकेण मानेन सिद्धम्। अर्थात् रत्यादीनां ध्वनयो येन प्रमाणेन गृह्यन्ते तेनैव प्रमाणेन तेषामसंलक्ष्यक्रमतापि गृहीता भवेदित्यपि नास्तीत्याशयः।

याश्चमत्करणाल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः" इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः । "रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः । तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः" इति चाभिनवगुप्तपादाचार्याः । स्यादेतत्, यद्ययं रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे "अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः" इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, "तेनायं द्वादशात्मकः" इति मम्मटोक्तिश्च न संगच्छेत, वस्त्वलंकारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतःसंभवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षडात्मना वस्त्वलंकारयोरिव रसादेरप्यभिव्यङ्ग्यनादष्टादशत्वप्रसङ्गात् ।

अत्रोच्यते—प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया । रसीभावो हि नाम झगिति जायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम् । संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतैव, न रसादित्वमिति

देवर्षौ नारदे । पितुर्हिमालयस्य । तथापि ध्वन्यमानत्वमात्रत्वेऽपि । अनुरणनभेदेति । ध्वनिभेदेत्यर्थः । तदेत्यादिः । रसीभवत्यरसो रसः संपद्यते । एवव्यवच्छेद्यमाह—न संलक्ष्येति । एवमग्रेऽपि । तेषामभिनवगुप्तादीनाम् । वर्णनेन । व्याख्याकारैरिति शेषः ।

---

१ एवंविधा चेष्टा कुमारीस्वभावादपि संभवति । ततश्च सेयं चेष्टा स्वाभाविकी आहोस्वित् कस्यचिद्भावस्य गोपनायेति जिज्ञासायां प्रकरणाद्यन्वेषणे सोयं व्रीडायाः (तद्गोपनात्मकस्यावहित्थस्य) चमत्कारः परस्तादुदेतीति संलक्ष्यक्रमत्वमित्याशयः ।

२ अर्थात् संलक्ष्यक्रमोपि स भवतीति ।

३ स्यादित्यनेन पुनः शङ्का—यदि रसादिः संलक्ष्यक्रमः स्यात्ततश्च क्रमस्य लक्ष्यतया अनुरणनमत्रापि सिद्धम् (पूर्वं वाच्यानां विभावादीनां प्रतीतिस्ततश्च व्यङ्ग्यस्य रसस्याऽभिव्यक्तिरिति) । एवं च यथा वस्त्वलंकाररूपयोर्व्यङ्ग्ययोः स्वतःसंभवित्वादिभिरुपाधिभिः प्रत्येकं षड्भेदता तथा रसस्यापि स्यादिति त्रयाणामष्टादशधात्वं स्यादिति ।

४ झगिति जायमानो यः अलौकिकचमत्कारस्तस्य विषयः स्थायी यस्य तत्त्वम् । अर्थात् तादृशचमत्कारस्य विषयो यत्र रत्यादिस्थायिभावः स्यात्स एव रसः ।

५ काशीमुद्रितपुस्तके तु 'वस्तुमात्रतैव' इत्यस्य स्थाने 'भावतैव' । एवं 'न तदुक्तीनां विरोधः' इति नकारोपि लुप्तः । सोयं पाठो भ्रामक एव अविचारात् ।

तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोधः । उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन्विचारणीया[1] । रसभावादिरर्थ इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः[2] ।

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पदवर्णरचनावाक्यप्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति । तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपायत्वे समानेऽपि कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन[3] कस्यचिदेव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् । यथा 'मन्दमाक्षिपति' (१४ पृष्ठे) इत्यत्र मन्दमित्यस्य ।

उपपत्तिस्त्वर्थे इति । विभावादिप्रतीते रसप्रतीतेश्च विद्यमानस्य सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलने तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वानापत्त्या रसत्वभङ्गापत्तिः । विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानुभवसाक्षिकमिति तवापि संमतमिति तदुपपत्तिर्बोध्या । नव्यास्तु—वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात्तत्सहितविभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरसप्रतीतेर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानक्रमालक्षणेन चालक्ष्यक्रमत्वम् । तच्च प्रकरणादिज्ञानविलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव । नहि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च क्रममादायालक्ष्यक्रमत्वम्, अपि तु तज्जन्यस्य । एतदेवाभिप्रेत्य 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादशभेदाः' इत्यभिनवगुप्तोक्तिर्यत्किंचिद्वाच्यार्थापेक्षया क्रमोऽपि गृह्यत इत्यभिप्रेत्य लक्ष्यक्रमत्वोक्तिर्यथाकथंचिन्नेया । नहि विभावादिप्रतीतिरहितयत्किंचिद्वाच्यार्थमात्रप्रतीतौ विगलितवेद्यान्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका । येन तत्क्रमग्रहणेऽपि रसत्वहानिः स्यादित्याहुः । **रसभावादिरर्थ इत्यत्रेति** । अभिनवगुप्तवाक्य इत्यर्थः । अन्यथा तदसंगतिः स्पष्टैवेति भावः । कस्यचिदेव पदस्य । **यथेति** ।

---

१ काशीमुद्रितपुस्तके तु 'उपपत्तिस्त्वर्थे सति वारणीया' इति पाठो विचिन्त्य एव ।

२ 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः । तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः' इत्यभिनवगुप्तवाक्ये रसभावादिपदेन रत्यादिर्ग्राह्यः । यतो हि तन्मतानुसारमलक्ष्यक्रमतायामेव रसत्वं भवति । अन्यथा अनुरणनानुसारं रसस्यापि षड्विधत्वं संभवेत् । तस्मात् 'रसभावादि'-पदेन रत्यादयो ग्राह्याः ।

३ चमत्कारस्य अयोगः असंबन्धः तेन व्यवच्छिन्नं रहितम् । अर्थात् सर्वदा चमत्कारसहितमेव (तत्पदम्) उपलभ्येत ।

रचनावर्णानां तु पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकतावच्छेदककोटिप्रविष्ट-त्वमेव न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्ट-रचनात्वेन, रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमना-विरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः ।

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्ज-कत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च । न हि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्ज-कत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात् । इत्थं च स्वस्वव्यञ्ज-

---

प्रतिपादितमधस्तात् । अभ्यर्हितत्वाद्रचनाशब्दस्य पूर्वनिपातः । **कोटीति** । रचना-विशिष्टपदत्वादिना व्यञ्जकत्वमिति भावः । इति इत्यत्र । **घटादाविति** । दण्डविशि-ष्टचक्रादेश्चक्रादिविशिष्टदण्डादेर्वा कारणत्वमित्यत्र विनिगमनाविरहेण यथा कारण-तायाः प्रत्येकपर्याप्तिस्तथात्र व्यञ्जकताया इति भावः । नव्यमतमाह—**वर्णेति** ।

---

१ रचना (वर्ण-पद-गुम्फः) वर्णा वा पृथग्रूपेण नोपलभ्यन्ते, किन्तु पदानां वाक्यानां वा अन्तर्गताः प्राप्यन्ते । एवं च रचनाविशिष्टपदत्वेन रचनाविशिष्टवाक्यत्वेन च पदानां वाक्यानां वा व्यञ्जकत्वम्, वर्णविशिष्टपदत्वेन वाक्यत्वेन च वर्णानां व्यञ्जकत्वं निरुच्येत । ततश्च रचनावर्णानां व्यञ्जकतावच्छेदक-(व्यञ्जकविशेषण-)-कोटिप्रविष्टत्वमेव, न स्वतन्त्र-तया व्यञ्जकत्वमिति शङ्का । अत्र पद-वाक्यविशिष्टवर्णरचनात्वेन व्यञ्जकत्वं ग्राह्यमाहोस्वित् वर्ण-रचनाविशिष्टपद-वाक्यत्वेनेति विनिगमनाविरहात् (एकतरपक्षसाधनाय दृढतरप्रमाणा-भावात्) प्रत्येकस्यैव व्यञ्जकता ग्राह्या । यथा हि घटं प्रति दण्डविशिष्टचक्रस्य कारणत्वम्, उत चक्रविशिष्टदण्डस्येति, उभयत्र विनिगमनाऽभावे कारणता प्रत्येकपर्याप्ता गृह्यते इति समाधानम् ।

२ रसव्यञ्जकानां संख्या मुधैव प्रवृद्धा स्यादिति गौरवम् ।

३ घ्राण-रसन-श्रोत्रेषु । एभिर्हि गन्धादिगुणानामेव प्रत्यक्षं भवति, न गुणिनां पृथिव्या-दीनामपि ।

४ गुणिनो गुणाश्च (पृथिव्याद्या गन्धाद्याश्च) उदासीना वा (येषां मिथो गुणगुणित्वादि-संबन्धो नास्ति ते) स्वस्वव्यञ्जकैः (शब्दादिभिः साधनैः) पृथक्पृथगुपस्थाप्यन्ते । परमिमे कदाचित्परस्परमिलिताः कदाचिच्च तटस्थाः सन्तः प्रमितेः (प्रत्यक्षस्य) गोचरा भवन्ति [अर्थात् नायं नियमो यद् गुणेन सह गुणिनोऽपि प्रत्यक्षं भवेदेव] । एवमेव रसा गुणाश्चापि स्वस्वव्यञ्जकैः पृथक्पृथगभिव्यक्ता अपि कदाचित्संमिलिताः कदाचिच्च तटस्थाः सन्तः अभि-व्यक्तेर्विषया भवन्ति (अभिव्यज्यन्ते) । अर्थात् अत्रापि नायमनुगमः कर्तुं शक्यते यद् गुणानामभिव्यञ्जने गुणिनाम् (रसानाम्) अपि अभिव्यञ्जनं स्यादिति । ततश्च वर्णरचनाद्याः स्वतन्त्रतया माधुर्यादिगुणानामेव व्यञ्जकाः स्वीकार्या न रसादेरिति नवीनानां मतम् ।

कोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः । उदाहरणं तु 'तां तमाल' इत्यादि प्रागुक्तमेव (७९ पृष्ठे) वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि 'आविर्भूता यदवधि' इत्यादि च (४१ पृष्ठे) । प्रबन्धस्य तु योगवासिष्ठ[1]रामायणे शान्तकरुणयोः, रत्नावल्यादीनि च शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि । मन्निर्मिताश्च पञ्च लहर्यो भावस्य । पदैकदेशस्य च 'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि' (५० पृष्ठे) इति करूपतद्धितो वीररसस्य प्रागेवोदाहृतः । एवं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम् । एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि । गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च । तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव । नामनि[2] रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं किं तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ॥

इति महोपाध्यायपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणश्रीपेरमभट्टस्य
सूरेः सूनुना पण्डितराजजगन्नाथेन निर्मिते रसगङ्गाधरे
रसनिरूपणात्मकं पूर्वाननम् ।

मन्नीति । भावस्य तद्व्यङ्ग्यसंबन्धिप्रबन्धादिरूपव्यञ्जकस्य । उदाहरणानीति शेषः । **पदैकदेशस्य चेति** । चस्त्वर्थे । उदाहरणमिति शेषः । वीररसस्येत्यस्य व्यञ्जक इति शेषः । **रागादिभिरपीति** । रसस्येति शेषः । वक्ष्यन्ते इत्यत्र उदाहरणानीत्यस्यानुषङ्गः, तस्य चाग्रे नामानीति । रसवदित्यत्रेत्यर्थः ॥

इति प्रथमाननप्रकाशः ।

---

१ योगवासिष्ठं शान्तस्य, रामायणं करुणस्येति यथासंख्यं प्रबन्धव्यञ्जकतायामुदाहरणे ।

२ ननु प्राधान्य एव यदा रसादिव्यपदेशस्तर्हि गौणतायां 'रस'वत् इति नाम कथमिति शङ्का । 'रस' पदस्यात्र 'रतिप्रभृतिस्थायिनोऽर्थाः' इति समाधानम् ।

३ मन्निर्मिताः पञ्चलहर्य इति प्रतीकम् ।

मुद्रणदोषान् जहती दधती विषमेषु सान्द्रसाहाय्यम् ।
पूर्वाननपरिसर-ला सरला सरलायतां पठताम् ॥
भङ्गाय वि(कु)मतिसङ्गाद्रसगङ्गाधरमुपेयुषां विदुषाम् ।
बत मञ्जुनाथकर-ला सरला गरलायते सेयम् ॥

---

1 मुद्राद्वारकनिरोधादिप्रहाणं व्यसनसामयिकसाहाय्यं चादधत् उदारपुरुषोपि पूर्वेषामाननगतमुपदिशतीत्यादिरप्यर्थो विदां विदितप्राय एव ।